ॐ

पीयूष मसमुद्रोत्थं रसायन मनौषधम।
अनन्यापेक्ष मैश्वर्यम् ज्ञान माहु र्म नीषिणः॥

तत्व वेताओं के शब्दों में ज्ञान, विना समुद्र मन्थन के निकला हुआ अमृत है। विना औषधि के उत्पन्न हुआ रसायन है। अन्य की अपेक्षा न रखने वाला ऐश्वर्य है।

दो शब्द

'जीव-अजीव' आपके कर कमलों में रखते हुए हमें अपार हर्ष है। यह हमारी सभा की प्रथम चेष्टा है। सभा ने अपनी शैशव अवस्था में ही आपकी सेवा में यह छोटी सी पुस्तक रखी है। जीव-अजीव के मूल लेखक स्वामीजी श्री १०८ श्री नथमलजी महाराज हैं। आप श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी साधु मुनिराजों में से एक अच्छे विद्वान साधु मुनिराज हैं। सभा के लिये ऐसी उपयोगी पुस्तक का प्रकाशन कार्य उठाने में सबसे अधिक श्रेय सम्पादक डा० जेठमलजी भन्साली को है। यह तो सभी जानते ही हैं कि जैन मुनियों से किसी सामग्री को हम सिर्फ कंठस्थ करके ही धारण कर सकते हैं। उसे धारण करके फिर दार्शनिक विषयों की पुंखानुपुंखता कायम रखते हुए सम्पादन करना सहज कार्य नहीं। इस अथक परिश्रम के लिए यह सभा डाक्टर साहब को बहुत बहुत धन्यवाद देती है एवं सभी विद्वान सज्जनों व लेखकों से अनुरोध करती है कि ऐसे सद्कार्यों के सम्पादन में डाक्टर साहब का अनुकरण करें।

पुस्तक की बहुमूल्यता पाठकों के ऊपर है। आशा है सभी सज्जन पुस्तक को अपना कर सभा के परिश्रम को सार्थक करेंगे।

पुनमचन्द भादानी

मन्त्री—

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा

श्री डूंगरगढ़।

अपने विषय में—

प्रिय पुत्री छगनी की वैराग्य भावना, एवं दीक्षा, आचार्य प्रवर का डूंगरगढ़ चातुर्मास, आपके अमूल्य वैराग्य पूर्ण उपदेश श्रवण का प्रभाव एवं संत सतियों की सामूहिक जीवन चर्या का असर—सभी ने मिलकर जीवन का श्रोत बदल डाला। विचार-धारा में उथल पुथल मचा दी। इसी परिवर्तन का परिणाम है इस "जीव-अजीव" ग्रन्थ के सम्पादन का साहस करना।

आश्चर्य होता है कि जैन साहित्य के क ख ग न जांनने वाले व्यक्ति ने यह हिम्मत कैसे की? यह दुस्साहस ही तो है? परन्तु इसके पीछे प्रेरणा देने वाला साहस बंधाने वाला एक दूसरा ही व्यक्ति है वह है महान् आचार्य तुलसी।

दीक्षा-महोत्सव
श्री डूंगरगढ़
कार्तिक कृष्णा अष्टमी
वि० स० २००२

—जेठमल भन्साली

आभार-प्रदर्शन

जैन साहित्य प्रकाशन का कार्य बड़ा कठिन है, फिर भी ओसवाल प्रेस के प्रोप्राइटर श्रीयुत् महालचन्दजी बयेद ने 'जीव-अजीव' ग्रन्थ को अति अल्पकाल में इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित करके अपनी कार्य-कुशलता का अद्भुत परिचय दिया है। आपने शुद्धाशुद्धि एवं कलात्मक छपाई की तरफ पूरा ध्यान रखते हुए ही काम किया है और मेरा ऐसा निजी विश्वास है कि जैन-साहित्य का प्रकाशन आपके हाथों में पूर्णतया सुरक्षित है।

श्रीयुत् पन्नालालजी भन्साली, लाड़नूं, श्रीयुत् जयचन्दलालजी कोठारी, लाड़नूं, श्रीयुत् सुगनचन्दजी आंचलिया, गंगाशहर, श्रीयुत् सोहनलालजी भादानी, डूगरगढ़, श्रीयुत् चम्पालालजी बैद, रतनगढ़ एवं देवेन्द्र कुमार का सहयोग प्रशंसनीय है। आप लोगों ने समय समय पर मुझे उचित परामर्श देकर जैन सिद्धान्त सम्बन्धी भयंकर भूलों को सुधारने में पथ-प्रदर्शन का काम किया है। "शुद्धाशुद्धि पत्र" को तैयार करने में आप लोगों का ही मुख्य हाथ रहा है। मैं किन शब्दों में आप लोगों को धन्यवाद दूं? आप लोग आदर्श साहित्य संघ के मुख्य कार्यकर्त्ता हैं और उम्मीद है कि आप लोगों के सफल प्रयास से आदर्श साहित्य संघ समाज में नवीन जागृति उत्पन्न करने में समर्थ होगा।

श्रीयुत् रामलालजी हंसराजजी गोलछा से भी इस काम में मुझे काफी सहयोग मिला है। मैं आप लोगों का बहुत आभारी हूं।

जेठमल भन्साली

सैद्धान्तिक शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	६	यही हाल एक घुमाव वाली वक्र गति का है। इसमें पहला समय पूर्व शरीर के द्वारा ग्रहण किये आहार का समय है और दूसरा समय नये उत्पत्ति स्थान में ग्रहण किये आहार का है, परन्तु तीन समय की दो घुमाव वाली और चार समय की तीन घुमाव वाली वक्र गति में अनाहारक स्थिति पायी जाती है यहां प्रथम तथा अन्तिम दो समयों को छोड़ कर बीच का काल आहार शून्य होता है।	दो समय की एक घुमाव वाली, तीन समय की दो घुमाव वाली और चार समय की तीन घुमाव वाली वक्र गति में अनाहारक स्थिति पायी जाती है। क्रमशः पहिली का पहिला, दूसरी का पहिला और दूसरा तथा तीसरी का दूसरा और तीसरा समय अनाहारक अर्थात् आहार शून्य होता है।
४२	२१	एक अन्त-र्मुहूर्त्त	एक उत्कृष्ट अन्त-र्मुहूर्त्त
४३	१५	जीवी कुछ मनुष्य	जीवी मनुष्य
४३	१६	और कुछ तिर्यंच	और तिर्यंच
४३	२२	वे सोपक्रम अनपवर्त्तनीय तथा निरुपक्रम अनपवर्त्त-	वे निरुपक्रम अनपवर्त्त-नीय आयु वाले होते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		नीय आयु दोनों तरह की आयु वाले होते हैं।	हैं।
६२	१६	वेदनीय नाम और गोत्र कर्म	वेदनीय कर्म
६४	१२	आत्मा का गुण है। परन्तु फिर भी आत्मा और मन दो अलग वस्तुयं है। अतः मन आत्मा से भिन्न है।	आत्माका गुण है, इस अपेक्षा से वह भिन्न है।
६६	१	संसारी आत्मा	संसारी समनस्क आत्मा
८६	१७	विश्व के समस्त पुद्गलों	प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले विश्व के समस्त पुद्गलों
१३८	१६	इनकी पूर्ति के बाद एक	इनको पूर्ति के बाद भी एक
१४३	११	देश—कल्पित भाग।	देश—कल्पितभाग। प्रदेश—सर्व सूक्ष्म अंश
१४३	१२	प्रदेश—एक	परमाणु—एक
१४३	१५	परमाणु-प्रदेश	प्रदेश
१४६	१४	मिथ्या दर्शन पाप	मिथ्या दर्शन शल्य पाप
१५२	११	तथा सम्यक्त्व मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय का विपाकी उदय।	तथा दर्शन मोहनीय का विपाकी उदय।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५५	१२	मोहनीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम	मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम
१५८	८	क्षय हो जाता है	निरोध हो जाता है।
१५६	११, १३, १६, १८, २०	प्रवृत्ति	राग द्वेप युक्त प्रवृत्ति
१६०	१, २, ३	प्रवृत्ति	राग द्वेप युक्त प्रवृत्ति
१६०	१२	प्रवृत्तियाँ—ये सब स्पष्ट रूप से दिखनेवाले कार्य हैं और आश्रव इनके कारण हैं।	प्रवृत्तियाँ—ये आश्रव हैं और कर्म बन्ध के कारण हैं, क्योंकि
१६०	१६	सब अशुभ योग आश्रव	सब योग आश्रव
१६२	१६	त्याग नहीं है इन चारों का जिसमें	जिसके उदय से त्याग नहीं हो सकता
१६७	२१	कायोत्सर्ग	व्युत्सर्ग
१७०	१	कायोत्सर्ग	व्युत्सर्ग
१७०	२	क्रिया को छोड़ना	क्रिया को एवं क्रोध आदि को छोड़ना
१७२	२१	शुभाशुभ फल मिलता है	शुभाशुभ उदय होता है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७२	२१	शुभ फल को	शुभ उदय को
१७२	२२	अशुभ फल को	अशुभ उदय को
१८१	३	वे असंख्य हैं।	वे अनन्त हैं।
१९२	४	परमाधार्मिक रहते हैं	परमाधार्मिक जाते रहते हैं।
१९३	७	वैक्रिय लब्धि वाले	मारणान्तिक समुद्घात वाले
१९३	९	वैक्रिय लब्धि	मारणान्तिक समुद्घात
१९९	४	स्वर्ग के चारों ओर	स्वर्ग के तीसरे रिष्ट नामक प्रतर में चारों ओर
१९९	१०	आचार पालन करते हैं। ये देव अपने स्थान से च्युत होकर मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष पाते हैं	आचार पालन करते हैं।
१९९	२०	विमान और हैं जो एक दूसरे के ऊपर ऊपर हैं जैसे	विमान और हैं जैसे
२००	४	जो देव रहते हैं वे द्वि-चरम होते हैं	जो देव रहते हैं वे बहुलतया द्वि-चरम होते हैं।
२१२	८	अज्ञान कहलाता है। दोनों	अज्ञान कहलाता है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		अपने अपने ज्ञान का उपयोग दो भिन्न दिशाओं में करते हैं। एक संसार के लिये, दूसरा मोक्ष के लिये। जैन दर्शन में इसी फर्क को बतलाने के लिये तीन भिन्न दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है।	
२४४	१०	जैसे मनोवर्गणा, शरीर वर्गणा	जैसे मनोवर्गणा, भाषा वर्गणा, शरीर वर्गणा
२६०	२०	आठ प्रहर	चार प्रहर
२६१	११	का त्याग करना अतिथि	का त्याग करना और प्रासुक निर्दोष दान देना अतिथि
२६१	२१	उद्देश्य है। 'मित्ति में	उद्देश्य है:-"मित्ति मे
२६२	८	व्रत का यही उद्देश्य है	व्रत की यह एक महान उपयोगिता है।
२६३	२१	नागरिक दृष्टि से तो प्रशंसनीय है ही, आत्म कल्याण के लिये भी परम उपयोगी है	आत्म कल्याण के लिये तो परम उपयोगी है ही, नागरिक दृष्टि से भी प्रशंसनीय है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८१	११	दीक्षा लेना ही छेदोपस्थापन है।	दीक्षा लेना भी छेदोप-स्थापन है।
२८१	१४	प्रतिक्रमण करना	प्रतिक्रमण करना इत्यादि
२८१	१७	परिहार विशुद्धि नाम की	परिहार नाम की

पच्चीस बोल कण्ठस्थ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
च	५	कालास्तिकाय	काल
च	१६	मिथ्या दर्शन पाप	मिथ्या दर्शन शल्य पाप
ज	५	कायोत्सर्ग	व्युत्सर्ग
ज	२१	विद्युतकुमार	सुपर्ण कुमार
झ	१	सुपर्ण कुमार	विद्युत कुमार
झ	३	बात कुमार	द्वीप कुमार
झ	४	स्तनित कुमार	उदधि कुमार
झ	५	उदधि कुमार	दिग् कुमार
झ	६	द्वीप कुमार	बात कुमार
झ	७	दिग् कुमार	स्तनित कुमार

प्रस्तावना

॥	१२	कर अन्तर	के अनन्तर

भाषा सम्बन्धी शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१७	नियंच	तिर्यंच
११	१५	चींचड़।	चींचड़ आदि।
११	१६	विच्छू।	विच्छू आदि।
१३	१४	उत्पम्न	उत्पन्न
१३	१६	अगो	अंगों
१४	१२	वणस्सकाइया	वणस्सइकाइया
१४	१६	पुद्गलो	पुद्गलों
१८	३, ११	पृथक पृथक	पृथक् पृथक्
२०	१३	लचा	लता
२०	१४	हरित्	हरित
२१	७	गाठों	गांठों
२१	२०	वनस्पितियां	वनस्पतियां
२३	१	उद्भिज	उद्भिज्ज
२३	२०	क्षयोपशमिक	क्षायोपशमिक
२५	१	निर्वृ ति	निर्वृ त्ति
२५	६	कदमूव	कदम्ब
३१	२	अन्तमुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
३२	१	श्वासच्छ्वास	श्वासोच्छ्वास

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	७, १०, १३	शक्ति-क्रिया	शक्ति रूप क्रिया
३३	२०	मल मूत्र रूप	मल मूत्र रूप एवं
३३	२०	रस, सार, रूप	रस अर्थात् सार रूप.
३४	८	ओज्	ओज
३६	८	जिन के	जिनके
४०	३	दिमाग	दिमाग,
४०	१०, १२	हृदय	हृदय,
४०	१६	अंगो	अंगों
४२	१०, १३	विष	विष,
४३	२०	तीथंकर	तीर्थंकर,
४४	७	तिर्यंच	तिर्यंच,
४५	१४	जलदी	जल्दो
४६	३	तंजहा,	तंजहा:—
४६	४	आदारए	आहारए
४७	५	एक रूप आदि	एक रूप अनेक रूप आदि
५२	१५	नाम	जनपद.
५३	१८, १९	साधू	साधु
६०	१	पुद्गलों की जो	पुद्गलों की सहायता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		प्रवृत्ति है	से जो जीव की प्रवृत्ति है
११३	१२	आत्म-शाक्षात्कार	आत्म साक्षात्कार
११६	१०	सकता	जाता
१२६	१७	सन्निपातिक	सान्निपातिक
१२८	१	गुरु लघ	गुरु लघु
१२६	६	तिर्यङ्क	तिर्यग्
१२६	२०	ककरा	कर्कश
१४१	६	असंख्यात्	असंख्यात
१५७	६	कम	कर्म
१५७	१२	सुं	सुं
१६५	१८	प्रार्श्ववर्त्ती	पार्श्ववर्त्ती
१६६	११	काय	कार्य
१७६	३	अप्रतिपाध	अप्रतिपाद्य
२३४	३	अनागतस्यानुतपते:	अनागतस्यानुत्पते:
२३४	४	नाग्त:	नाशत:
२३४	६	गुण वाला वर्तमान है।	वर्तमान गुण वाला है।
२५२	७	कि	की
२५६	२१	'श्रावक वारह व्रत'	'श्रावक व्रत धारण विधि'
२७८	शेष	माग	मार्ग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	हेड लाइन	नोल पहला	बोल दूसरा।
३७	”	बोल पांचवां	बोल छठवां।
६७	”	बोल नवमा	बोल आठवां
७७	”	बोल आठवां	बोल नवमां
१०६	”	बोल दशवां	बोल इग्यारवां
१८३	”	बोल चौदहवां	बोल पन्द्रहवां।

ग्रन्थानुक्रम

जैन सम्प्रदाय में 'पचीस बोल के थोकड़े' का प्रचलन सर्व साधारण में बहुत व्यापक रूप से है और प्रत्येक श्रावक व श्राविका इसे कंठस्थ कर लेना एक साधारण-सी बात समझता है। परन्तु इसका महातम्य मुझे तभी मालूम हुआ जब कि तेरापन्थ आचार्य श्री तुलसी गणि के सं० २००२ श्री डूंगरगढ़ चातुर्मास के समय श्री नथमलजी स्वामी ने कुछ विस्तार के साथ इस थोकड़े के प्रत्येक बोल का खुलासा करना शुरू किया।

पचीस बोल में जैन दर्शन के गूढ़ सिद्धान्त भर दिये गये हैं और उनको समझना साधारण बात नहीं परन्तु मुनि नथमलजी के समझाने का तरीका इतना सरल था कि प्रत्येक व्यक्ति इसे आसानी से समझ सकता था। हम में से कई व्यक्ति ऐसे भी थे जो समय समय पर नाना प्रकार के प्रश्न भी कर बैठते थे परन्तु आप उन प्रश्नों का उत्तर इतनी सरलता से देते थे कि सब के हृदय पर उनकी छाप सी पड़ जाती थी। धीरे धीरे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गयी। कई विद्यार्थी तो इतनी दिलचस्पी लेते थे कि आपकी क्लास में गये बिना चैन ही न पड़ता था।

अपने कार्य मे अति व्यस्त रहने पर भी आप अपना कुछ अमूल्य समय हमें समझाने में खर्च कर ही डालते थे। इसके लिये हम आपके चिर ऋणी रहेंगे। कभी कभी समझाते समय "पड़िलेहण" का समय भी हो जाया करता था और उस वक्त जब आप अचानक इस काम को बन्द करते तो हमें बड़ा बुरा लगता था। समय कितना मूल्यवान है इसका अनुभव हमें यहीं होता था।

समय बड़ी जल्दी भागता है। बात ही बात में दो महीने बीत गये। आपका क्रम जारी रहा। कई विद्यार्थियों के मन में यह विचार उठा कि चतुर्मास समाप्त होते ही आचार्य प्रवर के साथ स्वामी नथमल जी भी यहाँ से विहार कर जावेंगे और हमारा सीखा हुआ ज्ञान भूलि में पड़ जायगा अतः इसका लिखित रूप हो जाना जरूरी है। स्वामीजी ने सिर्फ "खरड़े" Rough copy के रूप मे ही इसे लिख रखा था और खरड़े से कंठस्थ याद कर लिखना कितना कठिन है यह आप अनुमान लगा सकते हैं। फिर भी उत्साही कार्य कर्त्ताओं की कमी न थी वे इस कठिन कार्य को करने में तत्पर हो गये। श्रीयुत् तोलारामजी डागा इस काम के मुखिया बने और उन्होंने स्वयं खूब ही मेहनत करके उत्साही विद्यार्थियों के सहयोग से इस काम को समाप्त किया। अतः मैं श्रीयुत् तोलारामजी डागा का बहुत ही आभारी हूं। यदि सच पूछा जाय, तो इस छोटे से ग्रन्थ को इस रूप में आपके

सामने रखने का श्रेय आप ही को मिलना चाहिये। आपके अलावा श्रीयुत् पुनमचन्दजी भादानी, श्री धनराजजी डागा श्री सुखलालजी माल्रू, श्री चन्दनमलजी नाहटा, श्री हंसराजजी डागा, श्री गनेशमलजी डागा, श्री हनुमानमल जी वुचा, श्री जयचन्दलालजी पारख, श्री भीखणचन्दजी वुचा, श्री भींवराज जी माल्रू, श्री चांदमलजी लूणिया, श्री मेगराजजी गोलछा, श्री जोरमलजी पुगलिया, श्री नेमचन्दजी डागा, श्री राम लालजी पुगलिया तथा श्री भूरसिंहजी चोपड़ा (गंगाशहर) ने भी इस काम मे काफी सहयोग दिया है।

पुस्तक का सम्पादन करते समय मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री हीरा-लालजी भन्साली तथा श्री भॅवरलालजी पुगलिया, श्री पुनम-चन्दजी दूगड़ से समय समय पर मुझे काफी सहयोग मिला है। श्री युत् श्रीचन्दजी रामपुरिया, तथा श्री गोपी-चन्दजी चोपड़ा ने भी इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ कर इसकी त्रुटि के सम्बन्ध में उचित परामर्श दिया है। अतः आपलोगों का मैं बहुत कृतज्ञ हूं।

धार्मिक पुस्तकों में शुद्धाशुद्धि का काफी ख्याल रखना पड़ता है। जहाँतक हो सका है इस पर पूरा ध्यान रख कर ही पुस्तक का सम्पादन किया गया है। फिर भी धार्मिक तत्वों के गूढ़ विषयों को न समझ-सकने के कारण जो भी

अशुद्धि आपके नज़र में आवे वह सूचित करने की कृपा करें ताकि अगले संस्करण में सुधार किया जा सके।

पुस्तक का मूल आधार श्री नथमलजी स्वामी लिखित पचीस बोल विवेचन का खरड़ा ही है परन्तु पुस्तक को आधुनिक रंग में रंगने के लिये बीच बीच में मैंने अपनी ओर से कई नयी बातें जोड़ दी है। इसका अभिप्राय सिर्फ जैन दर्शन के तत्वों का महत्त्व बताने का है। यदि तत्वज्ञों की दृष्टि में इसमें कुछ आलोचनीयता दीखे तो मुझे सूचित करने की कृपा करें।

प्रस्तुत पुस्तक उपन्यास या सामाजिक ग्रन्थ नहीं हैं जो आसानी से पढ़ा जा सके, समझा जा सके। इसमें जैन धर्म के गूढ़ तत्वों को समझाने की चेष्टा की गयी है। पहली बार समझ में न आने पर भी बारबार पढ़ कर समझने की चेष्टा करनी चाहिये। इस पर भी यदि न समझ सकें तो तत्वज्ञ साधु सम्प्रदाय से समझने की चेष्टा करें। स्वामी नथमलजी ने इसे सरल बनाने में काफी मेहनत और खोज की है अब उनकी इस मेहनत को सफल बनाना उससे लाभ उठाना आपका फ़र्ज़ है। आप समझें और दूसरों को समझायें यही मेरी अभिलाषा है।

जीव अजीव के भेद को भिन्न भिन्न दृष्टि कोण से समझाना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। जीव अजीव के भेद को समझ लेने से इस सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य आसानी से

समझ में आ जाता है। जैन दर्शन की नींव जीव अजीव के भेद पर ही रखी गयी है। यह छोटा सा ग्रन्थ इस भेद को समझाने में क ख ग का काम करेगा। ध्यान पूर्वक समूची पुस्तक पढ़ने पर ही आप इस ग्रन्थ की उपयोगिता समझ सकेगें। हम अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुये हैं यह आपही निर्णय करें।

कलकत्ते के अशान्त वातावरण में भी श्रीयुत् महालचन्दजी बैद ने प्रूफ संशोधन करने एवं इसे अति शीघ्र प्रकाशन करने में पर्याप्त परिश्रम किया है। श्री युत् चांदमलजी लूणिया के बारम्बार तकादे ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाया है उक्त दोनों सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी अभेदानन्द के कई अंग्रेजी ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं, ये सब सिर्फ तुलनात्मक-दृष्टि से ही रखे गये हैं, यह कोई आवश्यक नहीं कि ये अक्षरश. मान्य होने ही चाहिये।

अन्त में मैं श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा श्री डूंगरगढ़ के संचालकों को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने पुस्तक को प्रकाशन करना सहर्ष स्वीकार किया है।

श्री डूंगरगढ़
समत्सरी
भाद्र शुक्ल पंचमी
२००५

जेठमल भन्साली

प्रस्तावना

शास्त्र का प्रारम्भ लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये किया जाता है। धार्मिक विचार श्रेणी का अन्तिम एवं सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की साधना के लिये तत्वज्ञान उपयोगी है। अतएव शास्त्रकार शास्त्र के प्रारम्भ व मध्य में मोक्ष के बाधक तत्वों का विश्लेषण करते करते मोक्ष के साधक तत्वों के विवेचन में झुक जाते हैं और मोक्ष साधन के उपायों का उल्लेख कर अपने अटूट प्रयासों को चरितार्थ कर लेते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना भी इसी श्रेणी के अनुसार की गयी है।

पहिले बोल में संसार परिभ्रमण के स्थानों का उल्लेख किया गया है और क्रमशः चलते चलते पचीसवें बोल में मोक्ष साधन के अन्यन्य कारण चारित्र का उल्लेख है।

"पढ़मं नाणं तओ दया"— इस सिद्धान्त पर धार्मिक सृष्टि का जीवन टिका हुआ है। ज्ञान बिना क्रिया शक्य नहीं। अतः क्रिया-मुख को देखने के लिये ज्ञान-मुकुर की नितान्त आवश्यकता है। ज्ञान के बिना क्रिया की पहिचान नहीं हो सकती और पहिचान के बिना उसका पालन चक्षुः

विहीन (अंधा) मानव की गति के समान है। कहा भी है—

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ।
जीवा जीवे अयाणंतो, कहं सो ना हीइ संजमं ॥

—दशवैकालिक अ० ४-१२

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीवा-जीव को नहीं जानता वह संयम को कैसे जान सकता है? इसलिये अहिंसक मनुष्य के लिये, अहिंसा की साधना में जीव विज्ञान व अजीव विज्ञान का ज्ञान होना अनिवार्य है। इनका विवेचन जैन दर्शन में विशद एवं वितत रूप से उपलब्ध है। भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से इनका प्रतिपादन किया गया है। एक वस्तु का अनेक रूप से किया हुआ ज्ञान स्थायी रूप से आत्मा का सहचारी बन जाता है।

पचीस बोल नामक यह छोटा सा थोकड़ा—स्तोक कृत है। इसमें पचीस बोल अर्थात् पचीस वाक्यों का समुदय है। संग्रह कर्त्ता ने जीव अजीव का विश्लेषणात्मक संग्रह सरल एवं रुचिकर रूप से किया है।

जो जीव संसार में निवास करने वाले हैं उन्हें पर्याप्त स्थान की आवश्यकता है। आवश्यकता के पूरक स्थान कौन कौन से हैं, प्रथम बोल में इसी का निर्णय किया गया है। अहिंसक जबतक उत्पत्ति स्थान का निर्णय न कर लेगा, तबतक वह

सच्चा अहिंसक न बन सकेगा; क्योंकि जबतक उसे यही विदित नहीं कि जीव किन किन स्थानों में जन्म-धारण कर सकता है तबतक वह क्या अहिंसा का पालन कर सकेगा?

मिट्टी पानी आदि में जीव होते हैं और वे तिर्यंच गति में हैं। श्लेष्म, कफ आदि में असंज्ञी (मन रहित) मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं। उक्त पदार्थ स्थित जीवों को स्पर्श मात्र से कष्ट पहुंचता है—इत्यादिक ज्ञान के अभाव में अहिंसा की पूर्णता नहीं आ सकती। अतः इस विषय में जानकारी की आवश्यकता अनुभवी पाठक स्वयं विचार कर सकता है।

प्राणीमात्र में ज्ञान का साम्य है या तारतम्य इसका खुलासा दूसरे बोल में स्पष्ट रूप से प्राप्त है। यद्यपि सकल आत्माओं में अनन्त ज्ञान विद्यमान रहता है तो भी कर्म का आवरण इतना बलवान है कि वह ज्ञान, मुक्त होने की निकटवर्त्तिनी अवस्था (तेरहवाँ गुण स्थान) के बिना, पूर्ण प्रकट नहीं हो सकता। ज्ञान केवल अंश रूप से प्रकट रहता है। उस आंशिक ज्ञान को जैन परिभाषा के अनुसार ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम कहते हैं। अंश की भी पूर्ण सूक्ष्मता एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले जीवों में मिलती हैं। न तो वे स्वाद ले सकते हैं न उन्हें वासना का ही अनुभव होता है, न उनमें रूप अवलोकन की शक्ति है, न उन्हें सुनने का सौभाग्य प्राप्त है। वे विचारे केवल अपनी एक इन्द्रिय

द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय में क्रमशः इन्द्रिय ज्ञान की मात्रा बढ़ती जाती है। जो व्यक्ति इन्द्रिय ज्ञान के स्वरूप को जानने की कोशिश नहीं करेगा वह पूर्ण अहिंसक न बन सकेगा। वह यही जान कर बैठ जायगा कि जिसके जीभ, आंख नाक कान होते हैं वही जीव है और नहीं। किन्तु वह नहीं जानता कि उपरोक्त चार इन्द्रियों से रहित भी जीव होते हैं।

तीसरे बोल में जीवों के शरीर की विचित्रता का विशद वर्णन है। अहिंसक का ध्यान शरीर रचना के विभिन्न पुद्गलों की ओर आकृष्ट होना कोई कम महत्त्व का विषय नहीं; क्योंकि जबतक वह ऐसा नही जान सकेगा कि शरीर कितने भांति के होते हैं तबतक वह इस निश्चय पर कैसे पहुंच सकेगा कि एकेन्द्रिय वाले जीवों के पृथ्वी का, पानी का, अग्नि का, वायु का, वनस्पति का शरीर है।

चौथे बोल में पांच इन्द्रियों का यथार्थ चित्रण है। इसको जाने बिना जीव-अजीव मूलक भ्रम समूल नष्ट नही हो सकता, क्योंकि वह व्यक्ति इन्द्रिय ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान समझ कर इन्द्रिय गोचर होने वालों को ही जीव और दूसरों को निर्जीव मान बैठेगा और आँखों से न दीखने वाले जीवों का वध करने में संकोच न करेगा, अतः वह अहिंसक भी न हो सकेगा।

जीव को जो पुद्गल सामग्री की आवश्यकता है पांचवाँ बोल उसका बोध कराता है। आत्मा को अपना निर्वाह करने

के लिये किस प्रकार पौद्गलिक शक्ति का सहारा लेना पड़ता है और कर्मावृत्त आत्मा की योग्यता कितनी विभिन्न है इसका ज्ञान भी अहिंसक के लिये नितान्त आवश्यक है। पांच स्थावर में बोलने की या आलोचना करने की योग्यता नहीं है इसलिये वचन और आलोचना के अभाव में उसे निर्जीव मान लेना अहिंसक के लिये अहितकर है।

छट्ठे बोल में आत्मा की दश जीवन शक्तियों का विश्ले-षण है।

सातवें बोल में पांच शरीर का निर्देश है। राग द्वेष वश जीवन-शक्तियों का शरीर से वियोजन करना, अलग करना प्राणातिपात आश्रव या हिंसा है। इससे निवृत्त होना तो अहिंसक का मुख्य लक्ष्य है ही, अतः उक्त बोलों का ज्ञान अहिंसा का जीवन है।

आठवें बोल में आत्मा के व्यापार-क्रिया के तीन भेद किये गये हैं। आत्म-क्रिया तीन प्रकार की हैं—मानसिक, वाचिक, कायिक—इनको जैन परिभाषा के अनुसार योग कहते हैं। अहिंसा का अनुपम चित्र योग पर ही चित्रित है। इसी के आधार पर अहिंसा के तीन भेद हो जाते हैं—मानसिक अहिंसा, वाचिक अहिंसा, कायिक अहिंसा। किसी के प्रति मन को भी दूषित नहीं करना—मानसिक अहिंसा है। वचन के द्वारा किसी आत्मा को दुःख नहीं देना—वाचिक अहिंसा है। काया

के द्वारा किसी को कष्ट न पहुंचाना—कायिक अहिंसा है। योग सम्बन्धी ज्ञान अहिंसक के लिये अनिवार्य है।

नवमें बोल में आत्मा के लक्षण चैतन्य का सभेद वर्णन है। हम ज्ञान के द्वारा पदार्थ जान सकते हैं। वह ज्ञान प्रत्येक मानव में तारतम्य युक्त उपलब्ध है। अतः अल्पज्ञ होते हुये भी हम एकदम ठीक निश्चय पर पहुंच चुके हैं—ऐसा मिथ्या दावा न कर विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर ही जीव-अजीव का सत्य निश्चय करें, ताकि अहिंसा की साधना में स्खलना होने की सम्भावना न रहे।

दशवें बोल में आत्मीय गुणों के आवरणों का वर्णन है। उनके स्वरूप-बोध से तथा फल-ज्ञान से हिंसा के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। फिर उसका मन हिंसा करना नहीं चाहता एवं सरलता से उसे अहिंसक बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।

ग्यारहवें बोल में आध्यात्मिक विकास-क्रम का मनोरम विवेचन है। सांसारिक जीवों की चौदह अवस्थायें हैं। किस किस अवस्था में अहिंसा की ओर मनोवृत्ति का झुकाव पूर्ण या अपूर्ण हो सकता है—इसका तल-स्पर्शी ज्ञान अहिंसक को होना चाहिये। अहिंसा पालन के विना आत्म विशुद्धि असम्भव है।

बारहवें बोल में पांच इन्द्रिय के तेवीस विषय प्रतिपादित है। उक्त विषय-विकार में प्रवृत्त आत्मा अहिंसा की

पूर्ण साधना में असमर्थ है। उसे विषय-विकार सम्बन्धी भोग उपभोग की लालसा रहेगी और उसकी पूर्त्ति के लिये उसे प्रयत्न भी करना पड़ेगा—यह हिंसा है। ज्ञान के द्वारा जो जाना जाता है उसे ज्ञेय या ज्ञान का विषय कहते हैं। जानने की शक्ति या जानना आत्मा का गुण है। किन्तु जानने के साथ साथ पदार्थों पर जो राग द्वेष होता है उसे आत्मा का दोष या विकार कहते हैं। अहिंसा की पूर्णता में इन्द्रिय-विषय-विकार त्याज्य है।

तेरहवें बोल में मिथ्यात्व या सम्यक्त्व के पांच कारणों का परिचय मात्र है। जीव, धर्म, मार्ग, मुनि व मुक्ति का विपरीत ज्ञान मिथ्यात्व और अविपरीत ज्ञान सम्यक्त्व है। जीव-विज्ञान अहिंसा का जीवन है। धर्म और मार्ग स्वयं अहिंसा के सत्य स्वरूप हैं। मुनि अहिंसा का सच्चा उदा-हरण है। मुक्ति अहिंसा का वास्तविक लाभ है। इस बोल में यह बताया गया है कि अहिंसक को किस अवस्था में रहना चाहिये। उसके आचरण धर्म मय कैसे बनें और उससे क्या लाभ है—इत्यादि।

चौदहवें बोल में जीव अजीव के भेदों का विशाल वर्णन है। चेतना लक्षण जीव, अचेतना लक्षण अजीव—इन दोनों की अवस्था विशेष व पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा करते करते उनको नव की गिनती में ले जाते हैं। पूर्वोक्त दो—जीव अजीव तो प्रधान है ही, उनके सिवाय अन्य भेदों की क्या

आवश्यकता है, इसका दिग्दर्शन भी इसी बोल में है। जीव की बदलती हुई अवस्थायें आंखों के सामने हैं। जब हम उनके परिवर्तन के भिन्न भिन्न रूप पर दृष्टिपात करेंगें तो हमें इसी निश्चय पर पहुंचना होगा कि विश्व में एक ऐसा पदार्थ है जो आत्मा को नाना रूप मे परिवर्तन होने के लिये प्रेरित करता है—वह पुद्गल है। आत्मा अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा इष्ट या अनिष्ट रूप में इसे ग्रहण कर, मर्यादित काल तक उसके साथ दूध पानी की तरह एकी भाव कर लेती है। उसके द्वारा आत्मा को परिवर्तन के अविरल श्रोत में बहना पड़ता है। उपरोक्त पंक्तियों में चार तत्वों का समावेश है। जो ग्रहण करने वाला है वह आश्रव नाम का तत्व है। जो ग्रहण कर अन्तर आत्मा के साथ सम्बन्ध करता है वह शुभाशुभ कर्मों का बंध अर्थात् बंध नाम का तत्व है। सम्बन्धित पुद्गल समूह जब आत्मा को सुख तथा दुःख का अनुभव कराता है तब वह क्रमशः शुभ कर्म, पुण्य तत्व और अशुभ कर्म, पाप तत्व के नाम से पुकारा जाता है। यह षट् तत्व संश्लिष्ट आत्मा की संसार अवस्था है। आध्यात्मिक सुखेच्छु आत्मा आत्म-संयम (मानसिक वाचिक कायिक वृत्ति एवं अन्य आश्रव का निरोध) करने को प्रगतिशील बन जाती है। उस परित्याग का नाम ही संवर तत्व है।

कर्म समुदय का क्षय करने वाली आत्मा की प्रवृत्ति का नाम ही निर्जरा तत्व है। निर्जरा की पूर्णता ही मोक्ष तत्व है।

ये तीन तत्व अध्यात्म-दशा वर्त्ती है। अहिंसा का सृजन इनके आधार भूत निरोध क्षय व फल पर ही अवलम्बित है। इसलिये नव-तत्व की जानकारी किसे अभिप्रेत नहीं। इनके ज्ञान से विश्व का सारा स्वरूप समझा जा सकता है। जैन दर्शन तो यहाँ तक कहता है कि जबतक इनका ज्ञान न हो सके तबतक वह व्यक्ति सम्यक् ज्ञानी नही बन सकता।

पन्द्रहवाँ बोल आत्मा की अनेक परिणतियों का सूचक है। आत्म द्रव्य असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। सब प्रदेश ज्ञानमय हैं। उनकी प्रवृत्ति को परिणाम व अध्यवसाय कहते हैं। जिन जिन कार्यों में आत्मा की प्रवृत्ति होती है, उसके अनुसार ही आत्मा अनेक नामों से पुकारी जाती है जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ युक्त आत्मा कषाय आत्मा है। योग युक्त आत्मा योग-आत्मा है। जीव की जितनी अवस्थायें हैं, जितनी परिणतियाँ है उतनी ही आत्मायें हैं। आत्मा की पापकारी प्रवृत्ति का त्याग कर अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव करना ही अहिंसक का ध्येय होना चाहिये। यदि मैं हिंसा करूँगा, तो मेरी यही आत्मा हिंसक बन जावेगी। हिंसा न करूंगा, तो मेरी यही आत्मा अहिंसक बन जावेगी। ऐसी भावना अहिंसा की पूर्ण आराधना मे सहयोग देगी और जो कतिपय दार्शनिको का ऐसा मन्तव्य है कि आत्मा कूटस्थ नित्य अर्थात् सदा एक स्वरूप है—इस अंधकारमयी भावना को हटा कर जीवन को ज्योतिर्मय बनाने में भी हाथ बंटायेगी।

हिंसक से अहिंसक और अहिंसक से हिंसक होना ही अनेक रूपता का स्वीकार है। एक रूपता में अनेक परिवर्तन हो नहीं सकते। जब परिवर्तन है तब एक रूपता नहीं। हाँ, आत्म द्रव्य अवश्य शाश्वत है; यह कभी अनात्म रूप में नहीं जा सकता तौ भी अवस्था का परिवर्तन तो अवश्यम्भावी है।

सौलहवें बोल में चौबीस दण्डकों का विवेचन है। प्राणी मात्र इन स्थानों में अपने कर्मों का दण्ड भोग रहे हैं। मनुष्य गति, तिर्यञ्च गति, नरक गति और देव गति—इन चारों के चौबीस भेद-दण्डक मान लिये गये हैं। इन दण्डक स्थानों से जब छुटकारा होगा तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। इनमें जाने के चार चार कारण शास्त्र निर्दिष्ट हैं। महारम्भ, महा-परिग्रह, मांसाहार व पंचेन्द्रिय वध—ये चार नरक गति के कारण हैं। माया, कूटमाया, कूटतोल, कूट माप व मृषावाद—ये चार तिर्यंच गति के कारण हैं। प्रकृति भद्रता, प्रकृति विनी-तता, सानुक्रोशता, अमत्सरता—ये चार मनुष्य गति के कारण हैं। सराग संयम, संयमासंयम, बालतपः कर्म, अकाम निर्जरा—ये चारदेवगति के कारण हैं। हिंसा छुड़ाने का कितना सुन्दर उपदेश है।

सतरहवें बोल में छव लेश्या का निर्णय है। लेश्या आत्मा का परिणाम है। परिणाम भले बुरे दोनों तरह के होते हैं। दोनों ही तीन तीन भागों में विभाजित है। मलिन विचार

धारा हिंसा की ओर आकृष्ट करती है। स्वच्छ विचार धारा आत्मा को विशुद्ध बनाती है।

अठारवें बोल मे तीन दृष्टियों का उल्लेख है। प्राणी मात्र में कुछ न कुछ श्रद्धा मिलती है। श्रद्धा का सरल अर्थ है तत्वों की वास्तविकता में रुचि होना। मिथ्या विश्वास या अन्ध विश्वास श्रद्धा से सर्वथा प्रतिकूल है। हिंसा को अहिंसा और अहिंसा को हिंसा मानना मिथ्या विश्वास है, श्रद्धा नहीं। प्राणियों मे विशुद्धि एक समान नहीं हो सकती। अतः सब के सब तात्विक यथार्थता को नही पा सकते, परन्तु जितना जितना वस्तुओं का यथावत् ज्ञान पूर्वक विश्वास किया जाता है वह तत्व श्रद्धा ही है।

उन्नीसवें बोल में चार ध्यानों का विश्लेषण है। एकाग्रता का नाम ही ध्यान है। यह हितकर और अहितकर दो प्रकार का होता है हिंसा आदि अनार्य प्रवृत्तिगत ध्यान अहितकर होता है तथा आत्मोन्नति आदि कार्य सम्बन्धी एकाग्रता हितकर होती है।

बीसवें बोल में षट् द्रव्यों का विवरण है। पांच प्रकार से प्रत्येक द्रव्य का ज्ञान कराया गया है। अजीव द्रव्य पांच भागों में विभक्त है। जीव की अवस्थायें अपेक्षित है।

इक्कीसवें बोल मे विश्ववर्त्ती समस्त पदार्थ दो भागों में बांटे गये हैं—जीव राशि और अजीव राशि। इन दोनों में समस्त पदार्थ समाविष्ट हैं।

बावीसवें बोल में श्रावक के अवश्य पालनीय बारह व्रत निर्दिष्ट हैं। इनके अनुशीलन से जीवन सदाचार युक्त उच्च एवं प्रशंसनीय बन जाता है। प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि इनकी शिक्षा प्राप्त कर अपने अमूल्य जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करें।

तेवीसवें बोल में पंच महाव्रत बताये गये हैं। यह जीवन की उत्कृष्ट साधना पूर्ण अहिंसा की अवस्था है। पूर्वोक्त श्रावक व्रतों मे अशक्यता का प्रश्न खड़ा का खड़ा रह जाता है किन्तु इसमें अशक्यता को कोई स्थान नहीं। इसमें अहिंसा आदि का पूर्ण रूपेण पालन करना पड़ता है।

चौबीसवें बोल में त्याग करने का पथ प्रदर्शित है। अध्यात्मवाद का यहीं अक्षुण्ण विषय है। इसे जाने बिना पूर्णता का स्पर्श कठिन ही नही, असम्भव है। कई व्यक्ति स्वयं हिंसा नहीं करते और अपने को अहिंसक मान बैठते हैं। किन्तु वे नहीं समझते कि पूर्णता अभी कोसों दूर है। पूर्णता की प्राप्ति नौ-कोटि-त्याग के द्वारा होती है। नौ-कोटि त्याग है — मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं न करना, दूसरों से नहीं करवाना, और करने वालों को अच्छा नहीं समझना। कृत मनसा वाचा कर्मणा, कारित मनसा वाचा कर्मणा, अनुमोदन मनसा वाचा कर्मणा।

पचीसवें बोल में पांच चारित्र वर्णित है। इस बोल में दिखाया गया है कि पूर्ण अहिंसक के आचरण कितने विशुद्ध एवं अनुकरणीय होते हैं। साधु जीवन की विशुद्धि तथा तपस्या में कितना तारतम्य होता है इसका दिग्दर्शन भी हमें इस बोल में मिलता है।

—मुनि नथमल

पच्चीस बोल कण्ठस्थ

(१) पहले बोले गति च्यार—

(१) नरक गति (२) तिर्यञ्च गति

(३) मनुष्य गति (४) देव गति

(२) दूजे बोले जाति पांच—

(१) एकेन्द्रिय (२) द्वीन्द्रिय (३) त्रीन्द्रिय

(४) चतुरिन्द्रिय (५) पञ्चेन्द्रिय।

(३) तीजे बोले काया छव—

(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजसकाय

(४) वायुः काय (५) वनस्पति काय (६) त्रस काय।

(४) चौथे बोले इन्द्रियाँ पांच—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय (२) चक्षुरिन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय

(४) रसनेन्द्रिय (५) स्पर्शनेन्द्रिय।

(५) पांचवें बोले पर्याप्ति छव—

(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति (६) मनः पर्याप्ति।

(६) छठे बोले प्राण दश—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्राण (२) चक्षुरिन्द्रिय प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय प्राण (४) रसनेन्द्रिय प्राण (५) स्पर्शनेन्द्रिय प्राण (६) मनो बल (७) वचन बल (८) काय बल (९) श्वासोच्छ्वास प्राण (१०) आयुष्य प्राण।

(७) सात में बोले शरीर पांच—

(१) औदारिक शरीर (२) वैक्रिय शरीर (३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर (५) कार्मण शरीर।

(८) आठवें बोले योग पन्द्रह:—

चार मन का—(१) सत्य मनो योग (२) असत्य मनो योग (३) मिश्र मनोयोग (४) व्यवहार मनोयोग।

चार वचन का—(५) सत्य वचन योग (६) असत्य वचन योग (७) मिश्र वचन योग (८) व्यवहार वचन योग।

सात काया का—(९) औदारिक काय योग।
(१०) औदारिक मिश्र काय योग।
(११) वैक्रिय काय योग।
(१२) वैक्रिय मिश्र काय योग।
(१३) आहारक काय योग।
(१४) आहारक मिश्र काय योग।
(१५) कार्मण काय योग।

(९) नवमें बोले उपयोग बारह—

पांच ज्ञान—(१) मति ज्ञान (२) श्रुत ज्ञान (३) अवधि ज्ञान (४) मनः पर्यव ज्ञान (५) केवल ज्ञान

तीन अज्ञान—(६) मति अज्ञान (७) श्रुत अज्ञान (८) विभंग अज्ञान।

चार दर्शन—(९) चक्षु· दर्शन (१०) अचक्षुः दर्शन (११) अवधि दर्शन (१२) केवल दर्शन।

(१०) दशवें बोले कर्म आठ—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म (२) दर्शनावरणीय कर्म (३) वेदनीय कर्म (४) मोहनीय कर्म (५) आयुष्य कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म (८) अन्तराय कर्म।

(११) इग्यारवें बोले गुण स्थान चौदह—

(१) मिथ्या दृष्टि गुण स्थान (२) सास्वादन सम्यग् दृष्टि गुण स्थान (३) मिश्र गुणस्थान (४) अविरत सम्यग् दृष्टि गुण स्थान (५) देश विरति गुण स्थान (६) प्रमत्त संयत गुण स्थान (७) अप्रमत्त संयत गुण स्थान (८) निवृत्ति वादर गुण स्थान (९) अनिवृत्ति वादर गुण स्थान (१०) सूक्ष्म सम्पराय गुण स्थान (११) उपशान्त मोह गुण स्थान (१२) क्षीण मोह गुण स्थान (१३) सयोगी केवली गुण स्थान (१४) अयोगी केवली गुण स्थान।

(१२) बारहवें बोले पांच इन्द्रियों के तेवीस विषय—

श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय—(१) जीव शब्द (२) अजीव शब्द (३) मिश्र शब्द।

चक्षुरिन्द्रिय के पांच विषय—(४) कृष्ण वर्ण (५) नील वर्ण (६) रक्त वर्ण (७) पीत वर्ण (८) श्वेत वर्ण।

घ्राणेन्द्रिय के दो विषय—(६) सुगन्ध (१०) दुर्गंध।

रसनेन्द्रिय के पांच विषय—(११) तिक्त रस (१२) कटु रस (१३) कषाय रस (१४) आम्ल रस (१५) मधुर रस।

स्पर्शनेद्रिय के आठ विषय—(१६) शीत स्पर्श (१७) उष्ण स्पर्श (१८) रूक्ष स्पर्श (१६) स्निग्ध स्पर्श (२०) लघु स्पर्श (२१) गुरु स्पर्श (२२) मृदु स्पर्श (२३) कर्कश स्पर्श।

(१३) तेरहवें बोले दश प्रकार के मिथ्यात्व—

(१) धर्म को अधर्म समझने वाला मिथ्यात्वी
(२) अधर्म को धर्म समझने वाला मिथ्यात्वी
(३) साधु को असाधु समझने वाला मिथ्यात्वी
(४) असाधु को साधु समझने वाला मिथ्यात्वी
(५) मार्ग को कुमार्ग समझने वाला मिथ्यात्वी

(६) कुमार्ग को मार्ग समझने वाला मिथ्यात्वी
(७) जीव को अजीव समझने वाला मिथ्यात्वी
(८) अजीव को जीव समझने वाला मिथ्यात्वी
(९) मुक्त को अमुक्त समझने वाला मिथ्यात्वी
(१०) अमुक्त को मुक्त समझने वाला मिथ्यात्वी

(१४) चौदहवें बोले नव तत्व के ११५ भेद:—

जीव तत्व के चौदह भेद—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद—(१) अपर्याप्त और (२) पर्याप्त।

बादर एकेन्द्रिय के दो भेद—(३) अपर्याप्त और (४) पर्याप्त।

द्वीन्द्रिय के दो भेद—(५) अपर्याप्त और (६) पर्याप्त।

त्रीन्द्रिय के दो भेद—(७) अपर्याप्त और (८) पर्याप्त।

चतुरिन्द्रिय के दो भेद—(९) अपर्याप्त और (१०) पर्याप्त।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—(११) अपर्याप्त और (१२) पर्याप्त।

संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—(१३) अपर्याप्त और (१४) पर्याप्त।

अजीव तत्व के चौदह भेद—

धर्मास्तिकाय के तीन भेद—(१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश।

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद—(४) स्कन्ध (५) देश (६) प्रदेश।

आकाशास्तिकाय के तीन भेद—(७) स्कन्ध (८) देश (९) प्रदेश।

कालास्तिकाय का एक भेद—(१०) काल।

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद—(११) स्कन्ध (१२) देश (१३) प्रदेश (१४) परमाणु।

पुण्य तत्व-पुण्य बंध के कारण नौ—

(१) अन्न पुण्य (२) पानी पुण्य (३) स्थान पुण्य (४) शय्या पुण्य (५) वस्त्र पुण्य (६) मन पुण्य (७) वचन पुण्य (८) काय पुण्य (९) नमस्कार पुण्य।

पाप तत्व—पाप बंध के कारण अठारह—

(१) प्राणातिपात पाप (२) मृषावाद पाप (३) अदत्ता-दान पाप (४) मैथुन पाप (५) परिग्रह पाप (६) क्रोध पाप (७) मान पाप (८) माया पाप (९) लोभ पाप (१०) राग पाप (११) द्वेष पाप (१२) कलह पाप १३) अभ्याख्यान पाप (१४) पैशुन्य पाप (१५) पर परिवाद पाप (१६) रति अरति पाप (१७) माया मृषा पाप (१८) मिथ्या दर्शन पाप।

आश्रव तत्व के भेद बीस—

(१) मिथ्यात्व आश्रव (२) अव्रत आश्रव (३) प्रमाद

आश्रव (४) कषाय आश्रव (५) योग आश्रव (६) प्राणातिपात आश्रव (७) मृषावाद आश्रव (८) अदत्ता-दान आश्रव (९) मैथुन आश्रव (१०) परिग्रह आश्रव (११) श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१२) चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१३) घ्राणेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१४) रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१५) स्पर्शनेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१६) मन प्रवृत्ति आश्रव (१७) वचन प्रवृत्ति आश्रव (१८) काय प्रवृत्ति आश्रव (१९) भण्डोपकरण आश्रव (२०) शुचि कुशाग्र मात्र आश्रव ।

संवर तत्व के भेद बीस—

(१) सम्यक्त्व संवर (२) व्रत संवर (३) अप्रमाद संवर (४) अकषाय संवर (५) अयोग संवर (६) प्राणातिपात विरमण संवर (७) मृषावाद विरमण संवर (८) अदत्तादान विरमण संवर (९) अब्रह्मचर्य विरमण संवर (१०) परिग्रह विरमण संवर (११) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह संवर (१२) चक्षुरिन्द्रिय निग्रह संवर (१३) घ्राणेन्द्रिय निग्रह संवर (१४) रसनेन्द्रिय निग्रह संवर (१५) स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह संवर (१६) मनो निग्रह संवर (१७) वचन निग्रह संवर (१८) काय निग्रह संवर (१९) भण्डोपकरण रखने में अयत्ना न करना (२०) शुचि कुशाग्र मात्र दोष सेवन न करना ।

निर्जरा तत्व के भेद बारह—

(१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचरी (४) रस परित्याग (५) काया क्लेश (६) प्रति संलीनता (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) स्वाध्याय (११) ध्यान (१२) कायोत्सर्ग ।

बन्ध तत्व के भेद चार—

(१) प्रकृति बंध (२) स्थिति बंध (३) अनुभाग बंध (४) प्रदेश बंध ।

मोक्ष तत्व के भेद चार—

(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) चारित्र (४) तप ।

(१५) पन्द्रहवें बोले आत्मा आठ—

(१) द्रव्य आत्मा	(२) कषाय आत्मा
(३) योग आत्मा	(४) उपयोग आत्मा
(५) ज्ञान आत्मा	(६) दर्शन आत्मा
(७) चारित्र आत्मा	(८) वीर्य आत्मा

(१६) सोलहवें बोले दण्डक चौबीस—

सात नारकी का दण्डक एक — पहला

भवनपति देवों के दण्डक दश—

असुर कुमार	का	दण्डक	दूसरा
नाग कुमार	,,	,,	तीसरा
विद्युत् कुमार	,,	,,	चौथा

सुपर्ण कुमार	का	दण्डक	पाँचवाँ
अग्नि कुमर	”	”	छट्ठा
वात कुमार	”	”	सातवाँ
स्तनित कुमार	”	”	आठवाँ
उदधि कुमार	”	”	नवमाँ
द्वीप कुमार	”	”	दशवाँ
दिग् कुमार	”	”	इग्यारवाँ

पाँच स्थावर जीवों का दण्डक पांच—

पृथ्वी काय	का	दण्डक	बारहवाँ
अप् काय	”	”	तेरहवाँ
तेजस काय	”	”	चौदहवाँ
वायु काय	”	”	पन्द्रहवाँ
वनस्पति काय	”	”	सोलहवाँ
द्वीन्द्रिय	का	दण्डक	सतरहवाँ
त्रीन्द्रिय	”	”	अठारहवाँ
चतुरिन्द्रिय	”	”	उन्नीसवाँ
तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय	”	”	बीसवाँ
मनुष्य पंचेन्द्रिय	”	”	इक्कीसवाँ
व्यन्तर देवों	”	”	बावीसवाँ
ज्योतिष्क देवों	”	”	तेवीसवाँ
वैमानिक देवों	”	”	चौवीसवाँ

(१७) सतरहवें बोले लेश्या छव:—

(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेज. लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या।

(१८) अठारहवें बोले दृष्टि तीन—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) मिथ्या दृष्टि (३) सम्यक्-मिथ्या दृष्टि।

(१९) उन्नीसवें बोले ध्यान चार:—

(१) आर्त्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान (४) शुक्ल ध्यान।

(२०) बीसवें बोले षट् द्रव्यों का ज्ञान:—

(१) धर्मास्तिकाय—

द्रव्य से — एक द्रव्य

क्षेत्र से — लोक प्रमाण

काल से — आदि अन्त रहित अर्थात् अनादि और अनन्त।

भाव से — अरूपी

गुण से — गतिशील पदार्थों की गति में अपेक्षित सहायता करना।

(२) अधर्मास्तिकाय—

द्रव्य से — एक द्रव्य।

क्षेत्र से — लोक प्रमाण।

काल से — अनादि और अनन्त।
भाव से — अरूपी।
गुण से — पदार्थों के स्थिर रहने में अपेक्षित सहायता करना।

(३) आकाशास्तिकाय—
द्रव्य से — एक द्रव्य।
क्षेत्र से — लोक अलोक प्रमाण।
काल से — अनादि और अनन्त।
भाव से — अरूपी।
गुण से — समस्त पदार्थों को अवकाश देना, स्थान देना। भाजन गुण।

(४) काल—
द्रव्य से — अनन्त द्रव्य।
क्षेत्र से — अढ़ाई द्वीप प्रमाण।
काल से — अनादि और अनन्त।
भाव से — अरूपी।
गुण से — वर्तमान गुण।

(५) पुद्गलास्तिकाय—
द्रव्य से — अनन्त द्रव्य।
क्षेत्र से — लोक प्रमाण।
काल से — अनादि और अनन्त।
भाव से — रूपी।
गुण से — गलन मिलन स्वभाव।

(६) जीवास्तिकाय ।

द्रव्य से — अनन्त द्रव्य ।

क्षेत्र से — लोक प्रमाण ।

काल से — अनादि और अनन्त ।

भाव से — अरूपी ।

गुण से — चैतन्य गुण ।

(२१) इक्कबीसवें बोले राशि दो—

(१) जीव राशि (२) अजीव राशि

(२२) बावीसवें बोले श्रावक के बारह व्रत—

(१) पहिले व्रत में श्रावक स्थावर जीव हनन करने का प्रमाण करे एवं चलने फिरने वाले त्रस जीव हनन करने का स-उपयोग त्याग करे ।

(२) दूसरे व्रत में श्रावक मोटी झूठ बोलने का स-उपयोग त्याग करे ।

(३) तीसरे व्रत में श्रावक ऐसी मोटी चोरी करने का त्याग करे जिससे राजा दण्ड दे व लोग निन्दा करें ।

(४) चौथे व्रत में श्रावक मर्यादा उपरान्त मैथुन सेवन का त्याग करे ।

(५) पाँचवें व्रत में श्रावक मर्यादा उपरान्त परिग्रह रखने का त्याग करे ।

(६) छट्ठे व्रत में श्रावक दशों दिशाओं में मर्यादा उपरान्त जाने का त्याग करे।

(७) सातवें व्रत में श्रावक छब्बीस प्रकार की उपभोग परिभोग सामग्री का मर्यादा उपरान्त त्याग करे एवं पन्द्रह प्रकार के कर्मादान का भी मर्यादा उपरान्त त्याग करे।

(८) आठवें व्रत मे श्रावक मर्यादा उपरान्त अनर्थ दण्ड का त्याग करे।

(९) नवमे व्रत मे श्रावक सामायिक की मर्यादा करे।

(१०) दशवें व्रत में श्रावक देशावकाशिक संवर की मर्यादा करे।

(११) इग्यारवे व्रत में श्रावक पौषध की मर्यादा करे।

(१२) बारहवें व्रत मे श्रावक शुद्ध साधु को निर्दोष आहार-पानी आदि चौदह प्रकार का दान दे।

(२३) तेवीसवें बोले साधु के पंच महाव्रत—

(१) पहिले महाव्रत मे साधु सर्वथा प्रकारे जीव हिंसा करे नहीं, करावे नहीं, एवं करने वाले को भला जाणे नहीं, मन से वचन से काया से।

(२) दूसरे महाव्रत में साधु सर्वथा प्रकारे झूठ बोले नहीं, बोलावे नहीं एवं बोलने वाले को भला जाणे नही, मन से वचन से काया से।

(३) तीसरे महाव्रत में साधु सर्वथा प्रकारे चोरी करे नहीं, करावे नहीं एवं करने वाले को भला जाणे नहीं मन से वचन से काया से।

(४) चौथे महाव्रत में साधु सर्वथा प्रकारे मैथुन सेवे नहीं, सेवावे नहीं एवं सेवने वाले को भला जाणे नहीं, मन से वचन से काया से।

(५) पाँचवे महाव्रत में साधु सर्वथा प्रकारे परिग्रह रखे नहीं, रखावे नहीं एवं रखने वाले को भला जाणे नहीं, मन से वचन से काया से।

(२४) चौबीसवें बोले भांगा ४९—

तीन करण तीन योग से—

तीन करण—करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं।

तीन योग —मन, वचन, काय।

आंक ११ का भांगा ९—

यहाँ पहले १ का अर्थ है एक करण और दूसरे १ का अर्थ है एक योग। अर्थात् एक करण और एक योग से ९ भांगे हो सकते हैं जैसे—

(क) (१) करूं नहीं मन से।
(२) करूं नहीं वचन से।
(३) करूं नहीं काया से।

(ख) (४) कराऊं नहीं मन से।
(५) कराऊं नहीं वचन से।

(६) कराऊं नहीं काया से।

(ग) (७) अनुमोदूं नही मन से।

(८) अनुमोदूं नही वचन से।

(९) अनुमोदूं नही काया से।

आंक १२ का भांगा ९ -

यहाँ पहले अंक १ का अर्थ है एक करण एवं दूसरे अंक २ का अर्थ है दो योग। अर्थात् एक करण एवं दो योग से ९ भांगे हो सकते हैं जैसे:—

(क) (१) करूं नही मन से वचन से।

(२) करूं नहीं मन से काया से।

(३) करूं नही वचन से काया से।

(ख) (४) कराऊं नहीं मन से वचन से।

(५) कराऊं नही मन से काया से।

(६) कराऊं नही वचन से काया से।

(ग) (७) अनुमोदूं नहीं मन से वचन से।

(८) अनुमोदूं नही मन से काया से।

(९) अनुमोदूं नहीं वचन से काया से।

आंक १३ का भांगा ३—

यहाँ पहले अंक १ का अर्थ है एक करण और दूसरे अंक ३ का अर्थ है तीन योग। अर्थात् एक करण तीन योग से सिर्फ ३ भांगे हो सकते हैं जैसे—

(क) करूं नहीं मन से, वचन से, काया से।

(ख) कराऊं नहीं मन से वचन से काया से।

(ग) अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से।

आंक २१ का भाँगा ६—

यहाँ पहले २ का अर्थ है दो करण एवं दूसरे अंक १ का अर्थ है एक योग। अर्थात् दो करण एक योग से ६ भांगे हो सकते हैं जैसे:—

(क) (१) करूं नहीं कराऊं नहीं मन से।

(२) करूं नहीं कराऊं नहीं वचन से।

(३) करूं नहीं, कराऊं नही काया से।

(ख) (४) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से।

(५) करू नहीं, अनुमोदूं नही वचन से।

(६) करू नहीं, अनुमोदूं नहीं काया से।

(ग) (७) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से।

(८) कराऊं नही, अनुमोदूं नहीं वचन से।

(९) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं काया से।

आंक २२ का भांगा ६—

यहाँ पहले अंक २ का अर्थ है दो करण और दूसरे अंक २ का अर्थ है दो योग। अर्थात् दो करण एवं दो योग से ६ भांगे हो सकते हैं जैसे—

(क) (१) करूं नहीं, कराऊं नहीं मन से, वचन से।

(ख)

(२) करूं नहीं, कराऊं नहीं मन से, काया से।

(३) करूं नहीं, कराऊं नहीं वचन से, काया से।

(ख) (४) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से, वचन से।

(५) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से, काया से।

(६) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं, वचन से काया से।

(ग) (७) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से, वचन से।

(८) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से, काया से।

(९) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं, वचन से काया से।

अंक २३ का भांगा ३—

यहाँ पहले अंक २ का अर्थ है दो करण, और दूसरे अंक ३ का अर्थ है तीन योग। अर्थात् दो करण तीन योग से सिर्फ ३ ही भांगे हो सकते हैं जैसेः—

(क) करूं नहीं, कराऊं नहीं मन से, वचन से काया से।

(ख) करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से, वचन से, काया से।

(ग) कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से वचन से, काया से।

आंक ३१ का भांगा ३—

यहाँ पहले अंक ३ का अर्थ है तीन करण और दूसरे अंक १ का अर्थ है एक योग। अर्थात् तीन करण एवं एक योग से सिर्फ ३ भांगे हो सकते हैं जैसे:—

(क) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं मन से।

(ख) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं वचन से।

(ग) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं काया से।

आंक ३२ का भांगा ३—

यहाँ पहले ३ का अर्थ है तीन करण एवं दूसरे अंक २ का अर्थ है दो योग। अर्थात् तीन करण एवं दो योग से सिर्फ तीन भांगे हो सकते हैं जैसे:—

(क) करूं नहीं; कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से, वचन से।

(ख) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनूमोदूं नहीं, मन से, काया से।

(ग) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, वचन से, काया से।

अंक ३३ का भांगा—१

यहाँ पहले अंक ३ का अर्थ है तीन करण और दूसरे अंक ३ का अर्थ है तीन योग। अर्थात् तीन करण एवं तीन योग से सिर्फ एक ही भांगा हो सकता है जैसेः—

(१) करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं, मन से, वचन से, काया से।

(२५) पचीसवें बोल चारित्र पांच—

(१) सामायिक चारित्र।

(२) छेदोपस्थापन चारित्र।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र।

(५) यथाख्यात चारित्र।

सूत्र साख से पचीस बोल

१ गति चार— पन्नवणा पद-२३ उद्देशा-२

२ जाति पांच— पन्नवणा पद-२३ उद्देशा २

३ काया छव— { ठाणांग-६ सू० ४८० / दशवैकालिक अ० ४ }

४ इन्द्रिय पांच— { पन्नवणा पद-१५ / ठाणांग-५ सू० ४३३ }

५ पर्याप्ति छव— भगवती शतक-३ उद्देशा १

६ प्राण दश— ठाणांग-१० सू० ४८ टीका

७ शरीर पांच— { ठाणांग ५ सू० ३९५ / पन्नवणा पद-२१ }

८ योग पन्द्रह— भगवती शतक-२५ उद्देशा-१

९ उपयोग बारह— पन्नवणा पद-२९

१० कर्म आठ— पन्नवणा पद-२३
उत्तराध्ययन अ० ३३

११ गुणस्थान चौदह— समवायांग सू० १४

१२ ५ इन्द्रिय के २३ विषय— पन्नवणा पद-१५

१३ मिथ्यात्व दश— ठाणांग १० सू० ७३४

१४ नव तत्व के ११५ भेद—

जीव तत्व के १४ भेद—समवायांग-१४

अजीव तत्व के १४ भेद—उत्तराध्ययन अ० ३६

पुण्य तत्व के ९ भेद— ठाणांग ९ सू० ६७६
पाप तत्व के १८ भेद— भगवती श० १ उ० ९

आश्रव तत्व के २० भेद— ठाणांग-५ सू० ४१८; ठाणांग-१० सू० ७०२; प्रश्न व्याकरण- आश्रव द्वार; समवायांग-५

संवर तत्व के २० भेद— ठाणांग-५ सू० ४१८; ठाणांग-१० सू० ७०९; प्रश्न व्याकरण-संवर द्वार; समवायांग-५

निर्जरा तत्व के १२ भेद— भगवती श० २५ उ० ७; उत्तराध्ययन अ० ३०

बंध तत्व के ४ भेद— ठाणांग ४ सू० २९६
मोक्ष तत्व के ४ भेद— उत्तराध्ययन अ० २८

१५ आत्मा आठ— भगवती श० १२ उद्देशा-१

१६ दण्डक चौबीस— भगवती श० २४; ठाणांग १ सू० ५१

१७ लेश्या छव— पन्नवणा पद-१७; उत्तराध्ययन अ० ३४

१८ दृष्टि तीन— ठाणांग-३ सू० १८४

१६	ध्यान चार—	भगवती श० २५ उद्देशा ७ ठाणांग-४ सू० २४७ समवायांग-चार हरी भद्रीयावश्यक चौथा अध्ययन
२०	षट् द्रव्य के ३० भेद—	ठाणांग-५ सू० ४४१ उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा ७/८
२१	राशि दो—	समवायांग-१४६ उत्तराध्ययन अ० ३६
२२	श्रावक के बारह व्रत—	उपासक दशांग अध्ययन पहला हरी भद्रीयावश्यक अ० ६
२३	साधु पांच महाव्रत—	ठाणांग-५ सू० ३८६ दशवैकालिक अ० ४
२४	भांगा ४६—	भगवती श० ८ उद्देशा-५
२५	चारित्र पांच—	ठाणांग-५ सू० ४२८

पचीस बोल

की

—संक्षिप्त सूची—

१ पहिले बोल मे जीवों के पर्यटन की चार कक्षाओं का निर्देश है।

२ दूसरे बोल मे इन्द्रियो के आधार पर जीवो के पांच विभाग किये हैं।

३ तीसरे बोल मे शरीर रचना मे संगठित होने वाले पुद्गलों को लक्ष्य कर जीवों के छव काय बतलाये हैं।

४ चौथे बोल में पांच इन्द्रियो का वर्णन है।

५ पांचवें बोल मे जीवन शक्ति के हेतुभूत पौद्गलिक शक्ति की प्राप्ति के क्रम का उल्लेख है।

६ छट्ठे बोल में जीवन शक्तियो का निर्देशन है।

७ सातवें बोल में शरीर के विभाग बताये गये हैं।

८ आठवें बोल में जीव की प्रवृत्तियों का विवेचन है।

६ नवमें बोल में ज्ञान की प्रवृत्ति के बारह भेद बतलाये हैं।

१० दशवें बोल में संसार भ्रमण के हेतुभूत कर्मों का निरुपण है।

११ इग्यारहव बोल मे आत्म विशुद्धि की तरतमता का वर्णन है।

१२ बारहवें बोल में पांच इन्द्रिय के तेवीस विषय बतलाये हैं।

१३ तेरहवें बोल में मिथ्यात्वी के दश लक्षण बतलाये हैं।.

१४ चौदहवें बोल में नव तत्वों के ११५ भेद किये गये हैं।

१५ पन्द्रहवें बोल में आत्मा की निम्न परिणतियाँ बतलायी गयी है।

१६ सोलहवें बोल में चार गति के चौबीस भेद हैं।

१७ सतरहवें बोल में आत्मा के विचारों की विषमता का बोध कराया गया है।

१८ अठारहवें बोल में तत्व रुचि के तीन विभाग किये गये हैं।

१९ उन्नीसवें बोल में ध्यान के चार भेद किये गये हैं।

२० बीसवें बोल में षट् द्रव्य का निरुपण है।

२१ इक्कीसवें बोल में दो राशि का अभिधान है।

२२ बावीसवें बोल में श्रमणोपासक के लिये यथा-सम्भव धर्म क्रिया का वर्णन है।

२३ तेवीसवें बोल में साधु के महाव्रतों का निरुपण है।

२४ चौबीसवें बोल में आत्म निरोध का सर्व्वोच्च पथ प्रदर्शित है

२५ पचीसवें बोल में मोक्ष के कारण चारित्र का उल्लेख है।

जीव-अजीव

बोल पहला

गति चार—

(१) नरक गति	(२) तिर्यञ्च गति
(३) मनुष्य गति	(४) देव गति।

जैन दर्शन में आत्मा दो प्रकार की मानी गयी है—मुक्त और संसारी।

मुक्त आत्मा निर्मल है, अपने शुद्ध स्वरूप में है। इसे परमात्मा भी कहते हैं। ऐसी आत्मा परमानन्द में तल्लीन है। इसे पुनः संसार में आने की जरूरत नहीं रह जाती। ऐसी मुक्त आत्माये अनन्त हैं और अनन्त होंगी।

संसारी आत्मा अशुद्ध है। मलिन है। कर्मबन्धनों से जकड़ी हुयी है। ऐसी संसारी आत्मा अपनी मलिनता, अशुद्धता, एवं कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने की चेष्टा करती है। अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। संसार में—दुनियाँ में चक्कर लगाती है। इसी संसार चक्र को

समझाने के लिये जैन दर्शन ने इसके मुख्य चार भाग किये हैं—

नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति। इन्हीं चार अवस्थाओं में चार गतियों में आत्मा या जीव बराबर चक्कर लगाया करता है एवं जबतक आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को—मुक्त अवस्था को न प्राप्त कर लेगी तबतक उसे इन चार अवस्थाओं में चक्कर लगाना होगा, परिभ्रमण करना होगा।

आश्रय और आश्रयी का घनिष्ट सम्बन्ध है। आश्रय के आधार पर ही आश्रयी रह सकता है, उसके बिना नहीं। आत्मा तो है आश्रयी और इसका आश्रय है—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देवगति। इन चार आश्रय स्थानों में आत्मा गति-नाम-कर्म[1] के उदय से गमन करती है। गति-नाम-कर्म का बन्ध पहले जन्म में ही हो जाता है और उसे द्रव्य-गति कहते हैं, जैसे कि कार्य के पूर्व ही योजना बनायी जाती है। जब आत्मा पूर्व भव से च्युत होकर निर्धारित[2] स्थान में जाने को प्रस्थान कर देती है एवं वहाँ जाकर उत्पन्न हो

१। नाम कर्म की अनेक प्रकृतियाँ हैं और उनके भिन्न भिन्न कार्य हैं, उनमें एक गति नाम कर्म की प्रकृति है, उससे आगामी जन्म में जाने का निश्चय होता है और उसके द्वारा ही आत्मा आगामी जन्म-स्थान में जाती है।

२ निश्चित।

जाती है तब उसे कहते है भाव-गति, जैसे कि योजना का कार्य रूप में परिणत होना।

जीव की नरक आदि अवस्थाओं को गति कहते हैं।

साधारणतया गति शब्द का अर्थ है जाना, परन्तु यहाँ नैरंतरिक[1] गति शब्द का विधान नही करके एक भव से दूसरे भव में जाने के अर्थ में अर्थात् एक जीवन को पूर्ण कर दूसरे जीवन के भोगने के अर्थ में गति शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ —जब कोई आत्मा मनुष्य भव के आयुष्य को पूर्ण कर देवता के भव मे जाने को प्रस्थान करती है, उस क्षण से लेकर जबतक वह देवता के भव में रहती है तबतक वह देवगति कहलाती है। इसी तरह नरक गति, तिर्यंच गति एवं मनुष्य गति का अर्थ जानना चाहिये।

स्थान विशेष को लक्ष्य कर जो नरक गति या देवगति कहते हैं वह वास्तव में गति शब्द का अर्थ नहीं है। वह तो सिर्फ आधार[2] और आधेय[3] के उपचार से कहा जाता है। जिस आधार क्षेत्र में जिस प्रकार के प्राणी मुख्य रूप में रहते हैं वह स्थान उसी प्रकार के नाम से सम्बोधित किया जाता है। तिर्यंच गति के अन्तर्गत[4] पांच स्थावर के सूक्ष्म जीव समूचे लोक में व्याप्त[5] है, लोक का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जहाँ कि उनका अभाव मिलता हो। नीचे लोक में जहाँ नारक जीव रहते हैं

---

१ लगातार। २ सहारा। ३ सहारा लेनेवाला। ४ भीतर। ५ फैले हुये

वह स्थान नरक गति या पाताल लोक कहा जाता है। ऊंचे लोक में जहाँ देवता रहते हैं वह स्थान देवगति या देवलोक कहा जाता है। तिर्यग्-लोक[1] में जहाँ मनुष्य व तिर्यंच रहते हैं वह स्थान मनुष्य लोक कहलाता है। इसमें अपवाद[2] भी है— भवनपति नीचेलोक में तथा तिर्यग् लोक में है। ज्योतिष और व्यन्तर देवता तिर्यग् लोक में है।

संसारी जीव इन चार गतियों में समाये हुये हैं एवं अपने किये हुये कर्मों के अनुसार एक गति में से दूसरी गति में परिवर्तित होते रहते हैं जैसे एक ही जीव कभी मनुष्य कभी देवता कभी तिर्यंच और कभी नारक बन जाता है।

The soul after dwelling in one body for a certain length of time leaves it at the time of death and enters into another body, in order to gain experience and knowledge in those lives or to reap the results of the works or deeds of the previous lives It may enter into a human form or into an animal form. The doers or souls that have performed good deeds will enter into human forms or angelic forms but the doers that have performed wicked deeds will appear in animal forms and after remaining there for sometime may take any other form according to their deeds. Thus there is a revolution of the soul from body to body. The souls are bound to reap the natural consequences of

१ तिरछे लोक २ ऐसा नियम जो व्यापक नियम के विरुद्ध हो।

their deeds and misdeeds and enjoy or suffer by coming in bodies either animal or human—

—LIFE BEYOND DEATH
Swami Abhedanand—

अर्थात् कुछ समय तक एक शरीर में रहने के पश्चात् यह आत्मा नया ज्ञान एवं नया अनुभव प्राप्त करने के लिये अथवा अपने पूर्व जन्मों में किये हुये कर्मों का फल भोगने के लिये मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। मनुष्य शरीर या पशु शरीर धारण करती है। जिन आत्माओं ने अच्छे कर्म किये हैं वे या तो मानव शरीर धारण करती हैं अथवा देवताओं का शरीर धारण करती हैं एवं जिन आत्माओं ने बुरे काम किये हैं वे पशु शरीर धारण करती हैं। इन शरीरों में कुछ दिनों तक निवास करने के बाद वे पुनः दूसरा शरीर धारण करती हैं। यही आत्मा का परिभ्रमण है। आत्माओं को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये नये नये शरीर धारण करने ही पड़ेंगे।

अतः जो दर्शन पुन-र्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं उनको चार गतियाँ—देव गति, मनुष्य गति, तिर्यंच गति एवं नरक गति—माननी ही पड़ेगी।

प्रश्न—एक भव से दूसरे भव में, एक गति से दूसरी गति में, एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय जीव या आत्मा गमन या यात्रा कैसे करती है?

उत्तर—जन्मान्तर[1] के समय आत्मा जो गति, गमन या यात्रा करती है उसका नाम अन्तराल गति है। अन्तराल गति के समय स्थूल शरीर का अभाव होने पर भी सूक्ष्म शरीर यानी कार्मण और तैजस शरीर तो आत्मा के साथ लगा ही रहता है। अन्तराल गति दो प्रकार की है—ऋजु और वक्र। ऋजु गति से स्थानान्तर[2] को जाते हुये जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीर जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छुटे हुये वाण की तरह सीधे ही नये स्थान को पहुंच जाता है। वक्र गति घुमाव वाली होती है। इसमें घूमने का स्थान आते ही पूर्व देह जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर यानी कार्मण शरीर द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। यह कार्मण योग कहलाता है। अतः घुमाव के स्थान में जीव कार्मण योग के द्वारा नया प्रयत्न करके अपने गन्तव्य[3] स्थान को जाता है।

पूर्व शरीर छोड़ कर स्थानान्तर को जाने वाले जीव दो प्रकार के हैं एक तो वे जो स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों को सदा के लिये छोड़ कर स्थानान्तर को जाते हैं वे जीव मुच्यमान मोक्ष जाने वाले कहलाते हैं। दूसरे वे जो पूर्व स्थूल

१ दूसरे जन्म। २ दूसरे स्थान। ३ निर्दिष्ट, जाने वाले स्थान को।

शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को प्राप्त करते हैं ये जीव संसारी कहलाते हैं। मोक्ष जाने वाले जीव ऋजु गति से ही जाते हैं, वक्र गति से नहीं। पुनर्जन्म के लिये स्थानान्तर में जाने वाले जीवों की ऋजु तथा वक्र दोनों गतियाँ होती हैं। ऋजु गति और वक्र गति का आधार उत्पत्ति-क्षेत्र[1] है। जब उत्पत्ति क्षेत्र मृत्यु क्षेत्र के सम-श्रेणी[2] में होता है तो आत्मा एक ही समय में वहाँ पहुंच जाती है। यदि उत्पत्ति क्षेत्र विषम श्रेणी[3] में हो, तो यहाँ पहुंचने में आत्मा को एक दो या तीन घुमाव करने पड़ते हैं। उत्पत्ति स्थान कितना ही विषम—श्रेणी स्थित क्यों न हो, तीन घुमाव में तो वह प्राप्त हो ही जाताहै।

अन्तराल गति का कालमान जघन्य[4] एक समय का और उत्कृष्ट[5] चार समय का है। जब ऋजु गति हो तब एक समय और जब वक्र गति हो तब दो, तीन या चार समय समझने चाहिये। जिस वक्र गति में एक घुमाव हो उसका काल मान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हो उसका कालमान् तीन समय का और जिसमें तीन घुमाव हो उसका कालमान चार समय का है।

मुच्यमान जीव अन्तराल गति के समय सूक्ष्म व स्थूल सब शरीरों से मुक्त है अतः उसे आहार की जरूरत नहीं परन्तु

१ उत्पन्न होनेवाला स्थान। जन्म लेने वाला स्थान। २ एक ही सीध में ; उसी श्रेणी में, यह पारिभाषिक शब्द है। ३ जो सम श्रेणी में न हो। टेढा मेढा। ४ छोटा से छोटा, कम से कम। ५ बड़े से बड़ा। ज्यादा से ज्यादा।

ससारी जीव जो ऋजु गति से या दो समय वाली वक्र गति से जाने वाले हों वे अनाहारक नहीं होते, क्योंकि ऋजु गति वाले जिस समय में पूर्व शरीर छोड़ते हैं उसी समय में नया स्थान भी प्राप्त करते हैं। इसलिये उनकी ऋजु गति का समय पूर्व भव में ग्रहण किये हुये आहार का या नवीन जन्म स्थान में ग्रहण किये आहार का समय है। यही हाल एक घूमाव वाली वक्र गति का है। इसमें पहला समय पूर्व शरीर के द्वारा ग्रहण किये आहार का समय है और दूसरा समय नये उत्पत्ति स्थान में ग्रहण किये आहार का है, परन्तु तीन समय की दो घुमाव वाली और चार समय की तीन घूमाव वाली वक्र गति में अनाहारक[1] स्थिति पायी जाती है यहाँ प्रथम तथा अन्तिम दो समयों को छोड़कर बीच का काल आहार शून्य होता है।

अन्तराल गति में भी संसारी जीवों के कार्मण शरीर[2] अवश्य होता है। अतएव इस शरीर जन्य आत्म-प्रदेश-कम्पन, जिसको कार्मण-योग[3] कहते हैं वह भी अवश्य होता है। जब योग है तब कर्म-पुद्गल का ग्रहण भी अनिवार्य है क्योंकि योग कर्म-वर्गणा[4] के आकर्षण का कारण है। जैसे जल की वृष्टि के समय फेंका गया अग्नि-बाण, जलकणों को ग्रहण करता व उन्हें सोखता हुआ

---

१ बिना आहार की। आहार–रहित। २ यह पारिभाषिक शब्द है। इसका खुलासा सातवें बोल में मिलेगा। ३ यह भी पारिभाषिक शब्द है। इसका खुलासा आठवे बोल में किया गया है। ४ यह भी पारिभाषिक शब्द है। वर्गणा का विवेचन बीसवे बोल में मिलेगा।

चला जाता है वैसे ही अन्तराल गति के समय कार्मण योग से चंचल जीव भी कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करता हुआ और उन्हें अपने साथ मिलाता हुआ स्थानान्तर को जाता है।

बोल दूसरा

जाति पांच—

---

(१) एकेन्द्रिय (२) द्वीन्द्रिय (३) त्रीन्द्रिय
(४) चतुरिन्द्रिय (५) पंचेन्द्रिय।

चेतना आत्मा का लक्षण है। चेतना का विकास[1] प्राणी-मात्र में समान नहीं, किन्तु तारतम्य-युक्त[2] रहता है। विकास का पहला दर्जा इन्द्रिय-ज्ञान है क्योंकि विशिष्ट[3] ज्ञान तो किसी में हो या न हो परन्तु इन्द्रिय-ज्ञान तो अविकसित[4] आत्मा में भी अवश्य होगा, क्योंकि उसका यदि अभाव हो जावे तो जीव तथा अजीव में कोई भेद ही न रहे। अतः इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर अथवा द्रव्येन्द्रिय शरीर की आकृति को लक्ष्य कर जीवों की पांच जातियाँ की गयी हैं जैसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

---

१ उदय। २ उतार चढ़ाव सहित; जिसमें कमी वेसी हो। ३ खास। ४ जिसका विकास न हुआ हो।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय। एकेन्द्रिय जीव में भी पांच भाव इन्द्रियों की सत्ता[1] विद्यमान है फिर भी उसमें द्रव्य इन्द्रिय सिर्फ एक ही पायी जाती है अतः उसको एकेन्द्रिय कहते हैं। जिस जीव के दो द्रव्य-इन्द्रियाँ हैं वह द्वीन्द्रिय है जिस जीव के तीन द्रव्य-इन्द्रियाँ हैं, वह त्रीन्द्रिय है इत्यादि। जिन आत्माओं के जितनी द्रव्य इन्द्रियाँ प्रकट हैं उतनी इन्द्रियों की अपेक्षा से ही उनकी संज्ञा[2] का निर्माण हुआ है।

इन्द्रियों के द्वारा जो जीव के विभाग होते हैं वह जाति होती है।

जो जीव सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय की योग्यता[3] एवं आकृति[4] वाले हैं उन जीवों की जाति है- एकेन्द्रिय। जो जीव पूर्वोक्त स्पर्शन इन्द्रिय तथा रसन इन्द्रिय की योग्यता एवं आकृति वाले हैं उन जीवों की जाति है—द्वीन्द्रिय। जो जीव पूर्वोक्त स्पर्शन इन्द्रिय, रसन इन्द्रिय तथा घ्राण इन्द्रिय की योग्यता एवं आकृति वाले हैं उन जीवों की जाति है—त्रीन्द्रिय। जो जीव पूर्वोक्त स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा चक्षुः इन्द्रिय की योग्यता एवं आकृति वाले हैं उन जीवों की जाति है—चतुरिन्द्रिय। जो जीव पूर्वोक्त स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः तथा श्रोत्रेन्द्रिय की योग्यता एवं आकृति वाले हैं उन जीवों की जाति है—पंचेन्द्रिय।

---

१ मौजूदगी Existence। २ नाम। ३ क्षमता, सामर्थ्य। ४ स्वरूप। आकृति पौद्गलिक होती है और योग्यता अपने अपने विषय को जानने वाली आत्मिक क्षमता होती है।

जाति शब्द का अर्थ है सदृशता जैसे गाय जाति, अश्व जाति। गाय जाति में काली पीली सफेद आदि समस्त गायों का समावेश हो जाता है। अश्व जाति में विभिन्न प्रान्तीय समस्त अश्वों[1] का समावेश[2] हो जाता है वैसे ही एकेन्द्रिय जाति में पृथ्वी पानी अग्नि वायु और वनस्पति के समस्त जीवों का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जाति में दो इन्द्रिय वाले जीवों का, त्रीन्द्रिय में तीन इन्द्रिय वाले जीवों का, चतुरिन्द्रिय में चार इन्द्रिय वाले जीवों का और पंचेन्द्रिय में पांच इन्द्रिय वाले जीवों का समावेश हो जाता है। इन्द्रिय वृद्धि का क्रम यह है कि एकेन्द्रिय जाति में स्पर्शन इन्द्रिय होती है और क्रमशः द्वीन्द्रिय में जीभ, त्रीन्द्रिय में नाक, चतुरिन्द्रिय में आंख और पंचेन्द्रिय में कान बढ़ जाते हैं।

एकेन्द्रिय—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति।

द्वीन्द्रिय—लट, सीप, शंख, कृमि, घुण आदि।

त्रीन्द्रिय—चींटी मकोड़ा, जू, लीख, चींचड़।

चतुरिन्द्रिय—मक्खी मच्छर, भंवरा, टीडी, कसारी, बिच्छू।

पंचेन्द्रिय—मच्छ, मगर, गाय, भैंस, सर्प, पक्षी, मनुष्य, देव, नारक।

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

---

१ घोड़े। २ समा जाना।

तिर्यंच जीव तीन प्रकार के हैं जैसे–

(१) जलचर—जल में विचरने वाले यथा मछली, कछुआ, मगर आदि।

(२) स्थलचर—स्थल यानी भूमि, जमीन में चरने विचरने वाले। ये दो प्रकार के होते हैं जैसे—

(क) चतुष्पाद—चार पैर वाले जानवर।

(ख) परिसर्प—रेंग कर चलने वाले जीव।

चतुष्पाद के चार विभाग किये गये हैं जैसे—

(क) एक खुरा—जिसके एक खुर हो—घोड़ा, गदहा आदि

(ख) द्वि-खुरा—जिसके दो खुर हो—गाय, भैंस आदि।

(ग) गंडी पदा—गोल पैर वाले—हाथी ऊंठ आदि।

(घ) स-नख पदा – नख सहित पैरवाले – सिंह, बाघ, कुत्ता, बिल्ली।

परिसर्प के दो विभाग किये गये हैं जैसे –

(क) भुज परिसर्प—जो भुजाओं के बल पर चलते हैं—नेवला, चूहा।

(ख) उर परिसर्प—जो छाती के बल चलते हैं – सर्प।

(३) नभचर नभ यानी आकाश में विचरने-उड़ने-वाले जीव। इनको खेचर या पक्षी कहते हैं। इनके चार भेद हैं—

(क) चर्म पक्षी - चमड़े के परों वाले—चमगीदड़ आदि।

(ख) रोम पक्षी – हस चकवा आदि।

(ग) समुद्र पक्षी—इनके पंख सदा अविकसित रहते हैं अर्थात् डिब्बे के आकार सदृश इनके पंख सदा ढ़के रहते है। ये पक्षी मनुष्य क्षेत्र से सदा वाहिर ही होते हैं।

(घ) वितत पक्षी—जिन पक्षियों के पर सदैव खुले या विस्तृत रहते हैं उनको वितत पक्षी कहते हैं। ये भी मनुष्य क्षेत्र से वाहिर ही रहते हैं।

मनुष्य पंचेन्द्रिय।

मनुष्यों के दो भेद हैं—समूर्च्छिम और गर्भज

समूर्च्छिम - ये अपवित्र मल मूत्र श्लेष्म[1] आदि जगहों मे उत्पन्न होते हैं। ये मन-रहित होते हैं। मनुष्य के अवयवों[2] में उत्पन्न होने से इनकी मनुष्य संज्ञा होती है। इनको असंज्ञी मनुष्य भी कहते हैं।

गर्भज—ये मनुष्य गर्भ में उत्पम्न होते हैं। ये मन-सहित होते हैं, अत. इनको संज्ञी मनुष्य कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–

(१) कर्म भूमिक—असि[3], मसि[4], कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय और शिल्प कला आदि के द्वारा जहाँ पर जीवन निर्वाह

---

१ खखार। २ शरीर के अगो। ३ तलवार। जो लोग तलवार के वल पर अस्त्र शस्त्रों के आधार पर अपना पेट पालते है जैसे क्षत्रिय आदि। ४ स्याही। जो लोग कलम के आधार अपना जीवन यापन करते हैं जैसे बनिये, क्लर्क, डाक्टर, प्रोफेसर आदि।

किया जावे वह कर्म-भूमि कहलाती है, उसमें रहने वाले मनुष्य कर्म-भूमिक कहे जाते हैं।

(२) अकर्म भूमिक—जहाँ पर असि मसि आदि कर्मों का अभाव है, किन्तु कल्प वृक्षों पर ही जहाँ के जीवन निर्भर हो उसे अकर्म भूमि कहा है, उस भूमि के जीव अकर्म भूमिक कहलाते हैं।

देवों और नारकों का संक्षिप्त वर्णन सोलहवें बोल में किया गया है।

बोल तीसरा

काया छव—

पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया
वाउकाइया वणस्सकाइया तसकाइया

—दशवैकालिक अ० ४

(१) पृथ्वी काय (२) अप् काय (३) तेजस् काय
(४) वायुकाय (५) वनस्पति काय (६) त्रस काय

विभिन्न पुद्गलो से बने हुये शरीरों के द्वारा जीव के जो विभाग होते हैं उन्हें काय कहते हैं।

पृथ्वी है काय जिनकी वे जीव है—पृथ्वी काय। अप् अर्थात् पानी है काय जिनकी वे जीव हैं—अप् काय। तेजस्

अर्थात् अग्नि है काय जिनकी वे जीव हैं—तेजस् काय। वायु है काय जिनकी वे जीव हैं—वायु काय। वनस्पति है काय जिनकी वे जीव हैं वनस्पति काय। त्रस अर्थात् गमन क्रिया युक्त है काय जिनकी वे जीव हैं त्रस काय।

जिन जीवों का दुःख साक्षात्[1] न देखा जा सके किन्तु अनुमान के द्वारा जाना जा सके और जो जीव चलते फिरते न हों—स्थिर रहते हों—उनको स्थावर जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु वनस्पति काय के जीव स्थावर जीव कहे जाते हैं। जो जीव सुख दुःख को प्रकट करते हैं और जिन में चलने फिरने की शक्ति है उन जीवों को त्रस जीव कहते हैं।

अभिक्कंतं पडिक्कंतं,संकुचियं, पसारियं, रुयं भंतं,
तसियं, पलाइयं, आगइ गइ विन्नाया—

—दशवैकालिक—

अर्थात् सम्मुख आना, फिर कर जाना, शरीर का संकोच करना, शरीर को फैलाना, शब्द करना, भय से इधर उधर घूमना भाग जाना, आने जाने का ज्ञान होना—ये सब लक्षण त्रस जीवों में पाये जाते हैं।

काय शब्द द्वारा शरीर से आत्मा की भिन्नता का बोध[2] कराया गया है। काय—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। कर्मों के अनुसार आत्मा जिन जिन पृथ्वी पानी आदि को शरीर

---

१ सम्मुख, आखो के सामने। २ ज्ञान, जानकारी।

के रूप में पाती है उन उन संज्ञाओं से उनका नाम करण किया जाता है जैसा कि इस बोल के प्रारम्भ में ही वतलाया गया है कि जिन जीवों के शरीर पृथ्वी हैं वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं इत्यादि पृथ्वी पानी अग्नि वायु और वनस्पति को अन्य दार्शनिक पंच भूत कहते हैं परन्तु जैन दर्शन इनको स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानता। इन पांचो को ही जैन दर्शन जीवों के शरीर मानता है। जवतक ये जीवों के सहित होते हैं तवतक ये सचित्त शरीर या जीव शरीर कहलाते हैं और जव किसी प्रयोग से या स्वतः ही ये जीव रहित हो जाते हैं अर्थात् जव जीव उन शरीरों को छोड़ कर किसी दूसरी जगह उत्पन्न हो जाता है तव ये शरीर जीव रहित कहलाते हैं।

काय शब्द का अर्थ समूह भी है। इससे यह जानने को मिलता है कि मिट्टी की एक डली में असंख्य जीव होते हैं और उनके शरीर अलग अलग होते हैं।

प्रश्न—यदि मिट्टी की एक डली में असंख्य जीव हैं, तो उनके शरीर कितने हुये ?

उत्तर—असंख्य।

जब इन असंख्य जीवों का एक साथ ज्ञान कराने की आवश्यकता पड़ती है तब हम सव जीवों को अभेद[1] विवक्षा[2] से एकत्रित कर पृथ्वीकाय—इस शब्द के द्वारा ज्ञान करा सकते हैं।

---

१ भेद शून्य। २ अर्थः तात्पर्य।

संसारी जीवों के दो भेद होते हैं त्रस और स्थावर। इस वोल के पहले पाच भेद स्थावर के हैं।

प्रश्न —स्थावर किसे कहते है ?

उत्तर —स्वतः गमन शक्ति के अभाव में ठहरने का स्वभाव है जिन जीवों का, उन्हें स्थावर कहते हैं।

प्रश्न —त्रस किसे कहते हैं ?

उत्तर —स्वतः गमन करने का स्वभाव है जिन जीवों का, उन्हें त्रस कहते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि कोण से त्रस और स्थावर की परिभाषा यह है कि जिन जीवों के स्थावर-नाम-कर्म का उदय होता है वे हैं स्थावर और जिन जीवों के त्रस-नाम-कर्म का उदय होता है वे हैं त्रस। इस परिभाषा से कई शंकाओं का समाधान हो जाता है.जैसे अग्नि और वायु में भी चलने का स्वभाव है तो भी स्थावर-नाम-कर्म के उदय से वे स्थावर कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीव अनेक वाधाओं से पीड़ित होकर या जन्म ही से अशक्त होने के कारण नहीं चल सकते तो भी त्रस-नाम कर्म के उदय से वे त्रस हैं।

सिद्धान्त में कहीं कहीं अग्नि और हवा को त्रस कहा है। इसका समाधान यों करना चाहिये कि त्रस दो तरह के होते हैं— लब्धि त्रस और गति त्रस। सुख दुःख की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिये जो जीव चलते फिरते हैं वे लब्धि त्रस हैं तथा अग्नि और हवा का जो ऊंचे जाने का या टेढ़े जाने का स्वभाव है वह गति त्रस है।

पृथ्वीकाय – मिट्टी मुरड़, भाटा, हिंगलु, हरताल, हीरा, पन्ना, कोयला सोना चांदी आदि सब पृथ्वी-कायिक जीव हैं। मिट्टी की एक डली में असंख्य पृथक पृथक जीव होते हैं। पृथ्वी कायिक जीवों को जबतक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक पृथ्वी सचित्त-जीव सहित-कहलाती है।

अप्‌काय—बरसात का पानी, ओस का पानी, गढ़े का पानी, समुद्र का पानी, धुंअर का पानी, कुवा बावड़ी का पानी, तालाव झील व नदी का पानी—आदि सब अप् काय के जीव हैं। पानी की एक बूंद में असंख्य पृथक पृथक जीव होते हैं। उनको जबतक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक जल सचित्त--जीव सहित – कहलाता है और विरोधी शस्त्रों के साथ सम्पर्क होते ही उन अप् कायिक जीवों का नाश हो जाता है।

तेजस्काय—अग्नि, झाल की अग्नि, बिजली की अग्नि, बांस की अग्नि, उल्कापात आदि सब तेजस्कायिक जीव हैं। अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी में अग्निकायिक असंख्य जीव रहते हैं। जबतक विरोधी शस्त्र न लगे तबतक अग्नि सचित्त कहलाती है किन्तु अन्य विरोधी शस्त्र के साथ सम्पर्क होते ही उन अग्निकायिक जीवों का नाश हो जाता है।

वायु-काय—वायु के मुख्य पांच भेद हैं, यथा—

(१) उत्कलिका वायु—जो वायु ठहर ठहर कर चले।

(२) मण्डलिका वायु—जो वायु चक्र खाती हुई चले।

(३) घन वायु—जो वायु रत्न प्रभा आदि पृथ्वी के अथवा विमानों के नीचे है। यह वायु जमी हुई वर्फ की भांति गाढ़ी है एवं आधारभूत है।

(४) गुञ्जावायु—जो वायु चलती हुई गुञ्जार शब्द करे।

(५) शुद्ध वायु—जो वायु उपरोक्त गुणों से रहित तथा मन्द मन्द चलने वाली हो।

वायुकाय में भी पृथक पृथक अनेक जीव होते हैं और जबतक उनका विरोधी वायु के साथ संघर्ष न हो तबतक वह सचित्त रहती है। शास्त्र में एक जाति के जीवों को अपनी जाति के जीव तथा दूसरी जाति के जीवों के लिये शस्त्र कहा है अर्थात् जिस तरह शस्त्र द्वारा मनुष्यों का नाश होता है, उसी तरह परस्पर विरोधी स्वभाव के जीव एक दूसरे का शस्त्र के समान नाश करते हैं। जैसे विरोधी स्वभाव वाली दो मिट्टियों (पृथ्वीकाय) के जीव एक दूसरे का अपघात कर डालते हैं। अग्निकायिक जीव जलकायिक जीवों के लिये शस्त्र हैं उसी तरह जलकायिक जीव अग्नि-कायिक जीवों के लिये भी शस्त्र हैं। अपवाद सिर्फ इतना ही है कि वायुकाय का शस्त्र वायुकाय ही है। सचित्त वायु से जो वायुकाय का नाश होता है वह

स्व-काय शस्त्र कहलाता है और अचित्त वायु से जो वायुकाय का नाश होता है वह पर-काय शस्त्र कहलाता है।

वनस्पति काय—आम, अंगूर, केला, साग, सब्जी. आलू. पियाज लहसुन आदि वनस्पति काय है। वनस्पति काय के दो भेद किये गये हैं—साधारण और प्रत्येक

साधारण—जहाँ पर एक शरीर में अनन्त जीव निवास करते हों उसे साधारण वनस्पति काय कहते हैं। सर्व प्रकार के कन्द मूल अनन्त कायिक साधारण वनस्पति हैं। आलू मूली अदरक आदि सब इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

प्रत्येक—प्रत्येक शरीरी वनस्पति उसे कहते हैं जिसके शरीर में एक एक जीव हो जैसे—

वृक्ष-आम आदि। लत्ता, वेलें-करेला ककड़ी आदि। तृण-दूब आदि। हरित्-काय-चुलाई आदि पत्तेवाले साग। जलरूह—जल से उत्पन्न होनेवाले कमल आदि। प्रत्येक वनस्पति में शरीर का मालिक एक ही जीव होता है किन्तु उसके आश्रित[1] असंख्य जीव होते हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीवों में यह बात नहीं है। इनमें प्रत्येक जीव अपने शरीर का स्वतंत्र मालिक है।

---

1 आश्रय में रहने वाले।

वनस्पति कायिक जीवों के उत्पन्न होने के मुख्यतया ८ स्थान माने गये हैं जैसे—

(१) अग्र-बीजा-वनस्पति—वह वनस्पति जिसके सिरे पर बीज लगता हो जैसे कोरंट का वृक्ष।

(२) मूल-बीजा-वनस्पति—वह वनस्पति जिसके मूल में बीज लगता हो जैसे कंद आदि।

(३) पर्व-बीजा-वनस्पति—वह वनस्पति जिसकी गाठों में बीज पैदा होता है जैसे गन्ना—ईख आदि।

(४) स्कन्ध-बीजा-वनस्पति—जिसके स्कन्धों-जोड़ों में बीजों की उत्पत्ति होती हो जैसे बड़, पीपल, गूलर आदि।

(५) बीज-रूहा-वनस्पति—जिसके बीज में बीज रहता है जैसे चौबीस प्रकार के अन्न।

(६) सम्मूर्छिम वनस्पति—जो वनस्पति स्वयंमेव[1] पैदा होती है जैसे अंकुर आदि।

(७) तृण वनस्पति—तृणादि घास।

(८) बेल वनस्पति—चम्पा, चमेली, ककड़ी खरबूजा मतीरा आदि की बेलें।

इस प्रकार को बीजों वाली वनस्पति में पृथक पृथक अनेक जीव रहते हैं और जबतक उनको विरोधी शस्त्र न लगे तबतक वे वनस्पितियाँ सचित्त रहती हैं अर्थात् वनस्पति काय में भिन्न भिन्न शरीरों में संख्यात असंख्यात और

१ अपने आप।

अनन्त जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है और जबतक अग्नि (तेजस्काय) नमक (पृथ्वीकाय) आदि से उनका सम्पर्क न हो तबतक वह सचित्त—जीव सहित रहती है किन्तु उनसे सम्पर्क होने पर वह अचित्त—जीव रहित हो जाती है।

त्रसकाय—द्वीन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के समस्त हलने चलने घूमने फिरने वाले जीव त्रसकायिक जीव कहलाते हैं। इन जीवों के उत्पन्न होने के मुख्यतया आठ स्थान हैं, जैसे—

(१) अण्डज—वे त्रस जो अण्डों से पैदा होते हैं जैसे पक्षी आदि।

(२) पोतज—वे त्रस जीव जो अपने जन्म के समय खुले अङ्गों सहित होते हैं। जैसे हाथी आदि।

(३) जरायुज—वे त्रस जीव जो अपने जन्म के समय जरा से लिपटे रहते हों जैसे मनुष्य भैंस गाय आदि।

(४) रसज—रस के बिगड़ने से उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रिय आदिक जीव।

(५) स्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव जैसे जूं आदि।

(६) सम्मूर्छिम—वे त्रस जीव जो स्त्री पुरुष के संयोग के बिना ही उत्पन्न हो जाय जैसे मक्खी, चींटी, चींटा, भौंरा आ।

(७) उद्भिज—पृथ्वी को फोड़ कर निकलने वाले जीव जैसे तीड़ पतंग आदि।

(८) औपपातिक—गर्भ में रहे बिना ही जो स्थान विशेष में पैदा हो जैसे देव एवं नारक जीव।

बोल चौथा

इन्द्रिय पांच—

---

(१) स्पर्शन इन्द्रिय, (२) रसन इन्द्रिय, (३) घ्राण इन्द्रिय, (४) चक्षुः इन्द्रिय, (५) श्रोत्र इन्द्रिय।

इन्द्रिय का अर्थ है आत्मा का वह क्षायोपशमिक[1] ज्ञान जो वाह्य साधनों की सहायता से स्पर्श रस वर्ण गन्ध और शब्द को वर्तमान में जानता है।

जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान किया जाता है वह है स्पर्शन इन्द्रिय, त्वचा Sense of Touch. जिस इन्द्रिय से

---

१ क्षय उपशम से क्षयोपशम शब्द बनता है। जब क्षय युक्त उपशम होता है तब उसे क्षयोपशम कहते हैं। क्षय का अर्थ है आत्मा से कर्म का सम्बन्ध छूट जाना और उपशम का अर्थ है कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहते हुये भी उसका आत्मा पर असर न होना फल रूप में। क्षयोपशम सिर्फ घाति कर्म का ही होता है। क्षयोपशम में प्रदेशोदय रहता है और उपशम में प्रदेशोदय नहीं रहता यही क्षयोपशम और उपशम का अन्तर है। क्षयोपशम से आत्मा की जो अवस्था होती है उसे क्षयोपशमिक भाव कहते हैं।

रस का ज्ञान किया जाता है, स्वाद लिया जाता है उसका नाम है रसन इन्द्रिय—जीभ, जीह्वा, Sense of Taste. Tongue. जिस इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान किया जाता है, सूंघा जाता है वह है घ्राण इन्द्रिय—नासिका, नाक Sense of Smell. Nose. जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान किया जाता है, देखा जाता है उसका नाम है चक्षुः इन्द्रिय—आंख Sense of Sight-Eyes. जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान किया जाता है, सुना जाता है वह है श्रोत्र इन्द्रिय – कान Sense of hearing-Ears.

प्रत्येक जीव तीन लोकके ऐश्वर्य से सम्पन्न है इसलिये उसे इन्द्र कहते हैं। इन्द्र, जीव आत्मा जिस चिह्न से पहिचाना जाय उसे इन्द्रिय कहते हैं जैसे एकेन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय से पहिचाना जाता है। वास्तव में जिससे ज्ञान लाभ हो सके वह इन्द्रिय हैं।

इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय

द्रव्येन्द्रिय—नाक कान आदि इन्द्रियों के बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना—आकार विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। पुद्गलमय जड इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है।

भावेन्द्रिय—आत्मा के परिणाम विशेप को अर्थात् जानने की योग्यता को भावेन्द्रिय कहते हैं। भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप होती है।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय—इन्द्रियों के आकार विशेष को निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार दो प्रकार के होते हैं वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य आकार तो भिन्न भिन्न जीवों के भिन्न भिन्न होता है सभी के एकसा नहीं होता। आंख कान नाक आदि दृष्टि-गोचर होते ही हैं। आभ्यन्तर आकार सब जीवों के एकसा होता है जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार कदम्ब के फूल जैसा, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा, रसन इन्द्रिय का खुरपे जैसा होता है। सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय का आभ्यन्तर आकार अनेक प्रकार का होता है। यह अपने अपने शरीर का भिन्न भिन्न होता है।

उपकरण द्रव्येन्द्रिय—आभ्यन्तर निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय में रहने वाली अपने अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ, पौद्गलिक शक्ति को उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न—आभ्यन्तर निर्वृ ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में क्या भेद हैं ?

उत्तर—आभ्यन्तर निर्वृ ति तो है आकार और उपकरण है अन्तः स्थित शक्ति। वात पित्त आदि से यदि उपकरण द्रव्येन्द्रिय नष्ट हो जावे, तो आभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय मौजूद

रहने पर भी वह इन्द्रिय, विषयों का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ—बाह्य निर्वृति है तलवार, आभ्यन्तर निर्वृति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन भेदन शक्ति।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग।

लब्धि भावेन्द्रिय—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर पदार्थों के विषय को जानने की शक्ति को लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं।

उपयोग भावेन्द्रिय—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर पदार्थों के जानने रूप आत्मा के व्यापार को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न—लब्धि और उपयोग में क्या अन्तर है?

उत्तर—लब्धि तो है चेतना की योग्यता और उपयोग है चेतना का व्यापार। प्रकारान्तर से लब्धि भावेन्द्रिय का अर्थ है—स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् आत्म स्वरूप का उतना प्रकट होना कि जिसकी प्रवृत्ति से आत्मा सिर्फ स्पर्श, गन्ध, रूप, रस और शब्द का अनुभव कर सकती है और उनको जानने की जो प्रवृत्ति है वह उपयोग भावेन्द्रिय है। उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने एक दूरबीन यंत्र खरीदा, यह तो हुई प्राप्ति और उस यंत्र से उसने दूर-स्थित पदार्थों का निरीक्षण किया यह हुआ उपयोग।

प्रश्न—इन्द्रिय के निर्वृति, उपकरण, लब्धि और उपयोग ये चार भेद किये गये हैं। इनका आधार क्या ?

उत्तर—जानने का गुण चेतना का है, जड का नहीं। चेतना का जबतक पूर्ण विकास नहीं हो जाता तबतक वह जिस विषय पर ध्यान देती है उसे ही जान सकती है, दूसरे को नहीं। उक्त दो वाक्यों के आधार पर लब्धि और उपयोग का तत्त्व जाना जाता है। चेतन को जो ज्ञान करने की क्षमता व योग्यता प्राप्त होती है वह लब्धि इन्द्रिय है। इस योग्यता की प्राप्ति होने पर भी यह बात नहीं कि हम निरन्तर उस विषय का ज्ञान करते रहें। जिस समय जिस इन्द्रिय को उपयोग में लावें उस समय उसके द्वारा ज्ञान कर सकते हैं—यह उपयोग इन्द्रिय है।

इन्द्रिय ज्ञान का विकास स्वतंत्र नहीं है। इसे अपने विषय की जानकारी में पौद्गलिक इन्द्रियों का सहयोग लेना पड़ता है। जानने की क्षमता होने पर भी यदि आंख का गोला विकृत हो जावे तब इन्द्रिय अपने विषय का ज्ञान नहीं कर सकती। अतः इन्द्रिय आकार-निर्वृति की भी आवश्यकता जानी जाती है। निर्वृति के होते हुये भी कभी कभी इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। अतः जाना जाता है कि निर्वृति के सिवाय एक और भी शक्ति है जो जानने में

उपकार करती है वह उपकरण इन्द्रिय है। अतः निर्वृ ति और उपकरण तो इन्द्रिय ज्ञान के साधन हैं, लब्धि ज्ञान करने की शक्ति है और उपयोग उस शक्ति का कार्य रूप में परिणमन है। ये चारों मिलकर ही अपने अपने विषय का ज्ञान कर सकती हैं- एक दो तीन नहीं।

पौद्गलिक इन्द्रिय के सहयोग से स्पर्श का ज्ञान करनेवाली चेतना को योग्यता और व्यापार का नाम है स्पर्शन इन्द्रिय। पौद्गलिक इन्द्रिय के सहयोग से रस का ज्ञान करनेवाली चेतना की योग्यता और व्यापार का नाम है रसन इन्द्रिय। पौद्गलिक इन्द्रिय के सहयोग से गन्ध का ज्ञान करनेवाली चेतना की योग्यता और व्यापार का नाम है—घ्राण इन्द्रिय। पौद्गलिक इन्द्रिय के सहयोग से रूप का ज्ञान करनेवाली चेतना की योग्यता और व्यापार का नाम है चक्षुः इन्द्रिय। पौद्गलिक इन्द्रिय के सहयोग से शब्द का ज्ञान करनेवाली चेतना की योग्यता और व्यापार का नाम है श्रोत्रेन्द्रिय।

इस विषय में कुछ अन्य दर्शनों का मन्तव्य भिन्न है। वे मानते हैं कि इन्द्रियाँ स्वयं जड है, किन्तु मन के संयोग से ज्ञान करती है। इस प्रश्न का जैन दर्शन यों समाधान करता है—जो दृश्यमान[1] वाह्य[2] इन्द्रियाँ हैं वे तो जड हैं किन्तु उनकी सहायता से जो ज्ञान करनेवाली शक्ति है वह जड नहीं है.

१ दीखनेवाली। २ वाहरी।

क्योंकि जो स्वयं चैतन्य नहीं होता वह किसी के संयोग से भी ज्ञान नहीं कर सकता। यदि जड वस्तु में भी संयोग से ज्ञान शक्ति आ जावे तव तो जड और चेतन में अत्यन्ताभाव[1] त्रिकालवर्ती[2] विरोध ही नहीं रह जावे। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि जो जानती हैं वे इन्द्रियां चेतन हैं, जड नहीं।

इन पांच इन्द्रियों के अलावा एक और भी इन्द्रिय है जिसे मन कहते हैं। मन—यह ज्ञान का साधन है परस्पर्शन आदि की तरह वाह्य साधन न होकर आन्तरिक[3] साधन है अतः मन को अन्तःकरण भी कहते हैं। मन का विषय वाह्य इन्द्रियों की तरह परिमित[4] नहीं है। वाह्य इन्द्रियां सिर्फ मूर्त्त पदार्थो को ग्रहण करती हैं और वह भी अंश रूप से परन्तु मन मूर्त्त अमूर्त्त[5] सभी पदार्थों को ग्रहण करता है, सो भी अनेक रूप से। मन का काम विचार करने का है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये गये हो या नहीं ग्रहण किये गये हो। मन सभी विषयों में विकास—योग्यता के अनुसार विचार कर सकता है। यह विचार ही श्रुत है। मूर्त्त अमूर्त्त सभी तत्त्वों का स्वरूप मन का प्रवृत्ति क्षेत्र है। मन ज्ञान का साधन है अतः इसे इन्द्रियों में शुमार करना.

---

१ अत्यन्त अभाव होना अर्थात् किसी वस्तु का विल्कुल न होना जैसे आकाश कुसुम, वन्ध्या पुत्र। २ त्रिकाल व्यापी। ३ भीतरी। ४ सीमित। ५, मन अमूर्त्त पदार्थों का ज्ञान शास्त्रों के आधार पर ही कर सकता है।

चाहिये परन्तु ऐसा नहीं किया गया, कारण इसे अपनी प्रवृत्ति में मुख्यतया इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण मन को अनिन्द्रिय, नोइन्द्रिय या ईषद् इन्द्रिय (इन्द्रिय जैसा) कहा है।

बोल पांचवाँ

पर्याप्ति छत्र—

---

(१) आहार पर्याप्ति, (२) शरीर पर्याप्ति,
(३) इन्द्रिय पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति,
(५) भाषा पर्याप्ति, (६) मनः पर्याप्ति।

पर्याप्ति का अर्थ है आत्मा में होनेवाली पौद्गलिक शक्ति या पौद्गलिक क्रिया की परिसमाप्ति—पूर्णता।

जब जीव एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब वह भावी जीवन यात्रा के निर्वाह के लिये, अपने नवीन जन्म क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का संग्रह करता है—इसे या इससे उत्पन्न होनेवाली शक्ति को—पौद्गलिक शक्ति को—पर्याप्ति कहते हैं।

छवों ही पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक काल में होता है परन्तु उनकी सिद्धि-प्राप्ति क्रमशः होती है, इस लिये क्रम का नियम रखा

गया है। आहार पर्याप्ति को एक समय[1] और शरीर आदि पांचों में से प्रत्येक को अन्तमुहूर्त्त[2] लगता है।

मकान बनानेवाला सब से पहिले उसकी सामग्री—काठ, ईंट, मिट्टी पत्थर चूना आदि—इकट्ठी करता है, इसे समझो आहार पर्याप्ति। आहार पर्याप्ति मे सब पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल ग्रहण किये हुये हैं। अमुक काठ स्तम्भ बनाने के योग्य है, अमुक कपाट बनाने के योग्य है, अमुक पत्थर पट्टियों या दीवारों के योग्य है—इस विभाग के समान समझो शरीर पर्याप्ति। आहार पर्याप्ति में जो पुद्गल शरीर की रचना करने में समर्थ है, जिन पुद्गलों के द्वारा शरीरकी रचना होती है, शरीर बनता है, इन पुद्गलों को या इनके शरीर बनाने के सामर्थ्य को कहते हैं शरीर पर्याप्ति।

दिवालें या कमरा बनाने के समय उनमें प्रवेश और निकास के हक रखे जाते हैं, दरवाजे बनाये जाते हैं। घर के समान आकार वाली शरीर पर्याप्ति में दरवाजों के समान इन्द्रिय पर्याप्ति है। परोक्ष ज्ञान वाली आत्मा बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही वस्तुओं का ज्ञान कर सकती है।

---

१ जैन सिद्धान्त में सब से सूक्ष्म अर्थात् अविभाज्य (जिस के भाग न हो सके) काल का नाम समय है। २ दो समय से लेकर दो घड़ी—४८ मिनिट—में एक समय कम—इतने काल को अन्तमुहूर्त्त कहते हैं। जघन्य अन्तमुहूर्त—दो समय का काल। उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त्त—दो घड़ी में एक समय कम का काल। मध्यम अन्तमुहूर्त—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच का काल।

श्वासोच्छ्वास[१] पर्याप्ति और भाषा पर्याप्ति का स्वरूप पूर्वोक्त उदाहरण के द्वारा ही समझना चाहिये, क्योंकि इन दोनों में भी इन्द्रियों की तरह प्रवेश और निर्गम होता है।

मकान तैयार होने के बाद, यह कमरा शीतकाल में गरम रहता है यह ग्रीष्मकाल में ठंढ़ा रहता है, यह शयन घर है यह भोजन घर है इत्यादि विचारों के समान है मनः पर्याप्ति। हेय अर्थात् छोड़ने योग्य वस्तुओं का परित्याग एवं उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को स्वीकार करने का ज्ञान मनः पर्याप्ति के आलम्बन से ही किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार पर्याप्तियों की निम्न प्रकार से परिभाषा की जा सकती है—

शरीर आदि पांच पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल ग्रहण करने वाली क्रिया की समाप्ति या पूर्णता होती है जिस पुद्गल समूह से, उसे कहते हैं आहार पर्याप्ति।

---

१ बाहर की वायु को शरीर के अन्दर लेजाना और अन्दर की वायु को शरीर के बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहलाता है। यह काम सिर्फ फेफड़ों के द्वारा ही नहीं होता परन्तु चर्म-छिद्रों के द्वारा भी होता है। हमारे समूचे शरीर से श्वासोच्छ्वास की क्रिया होती रहती है। यदि सिर्फ फेफड़े को ही श्वासोच्छ्वास का साधन मान ले तब तो वनस्पति काय में श्वासोच्छ्वास की क्रिया न होनी चाहिये क्योंकि वनस्पति काय में फेफड़ा नहीं होता। परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार वनस्पति काय में भी श्वासोच्छ्वास होता है अतः यह मानना ही पड़ेगा कि श्वासोच्छ्वास प्राणी के समूचे शरीर से होता रहता है।

शरीर के योग्य पुद्गलों की, शरीर के अंगोपांग की रचना करने वाली क्रिया की समाप्ति होती है जिस पुद्गल समूह से, उसे कहते हैं शरीर पर्याप्ति।

त्वचा आदि इन्द्रियों की रचना करने वाली क्रिया की समाप्ति होती है जिस पुद्गल समूह से उसे कहते हैं इन्द्रिय पर्याप्ति।

श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों के ग्रहण और उत्सर्ग—त्याग करने वाली शक्ति क्रिया की समाप्ति होती है जिस पुद्गल समूह से, उसे कहते हैं श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति।

भाषा के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्ग करने वाली शक्ति - क्रिया की समाप्ति होती है जिस पुद्गल समूह से, उसे कहते हैं भाषा पर्याप्ति।

मन के योग्य पुद्गलों का ग्रहण और उत्सर्ग करने वाली शक्ति क्रिया की समाप्ति होती है जिस पुद्गल समूह से, उसे कहते हैं मनः पर्याप्ति।

प्रश्न—पर्याप्तियों के पूर्ण होने के बाद, उनसे जीवों को क्या लाभ है?

उत्तर—आहार पर्याप्ति के द्वारा जीव प्रति समय आहार[1] करने की क्रिया अर्थात् अपने योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उसके द्वारा ही गृहीत आहार खल अर्थात् असार मलमूत्र रूप, रस, सार, रूप में परिणत होता है।

---

१ औदारिक, वैक्रिय, आहारक—और छवों पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गलों का

शरीर पर्याप्ति के द्वारा रस के रूप में परिणत आहार का सात धातुओं[1] के रूप में परिणमन होता है। आहार पर्याप्ति के द्वारा जो रस बनता है उससे शरीर पर्याप्ति के द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है और यह शरीर के लिये उपयोगी है।

ग्रहण होता है उसे आहार कहते हैं। आहार तीन प्रकार के हैं—ओज आहार, रोम आहार और कवल आहार।

कार्मण योग के द्वारा प्रथम समय में जो पुद्गल समूह ग्रहण किया जाता है वह है ओज आहार।

रोम आहार—स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा जो पुद्गल समूह ग्रहण किया जाता है वह है रोम आहार। रोम कूप के द्वारा क्षण क्षण में पुद्गलों का ग्रहण होता रहता है। सूर्य के ताप से संतप्त और प्यासा पथिक वृक्ष की छाया में जाकर रोम कूप के द्वारा ठंढ के पुद्गलों को ग्रहण करता है और परम शान्ति अनुभव करता है।

प्रक्षेप या कवल आहार—वह आहार जो मुख से ग्रहण किया जाय अथवा जो बाह्य साधनों के द्वारा शरीर में प्रक्षिप्त–प्रवेश– किया जाय। नाक के द्वारा रबर की नली से Nasal feeding या गुदा के द्वारा Rectal feeding या इन्जेक्शन् के द्वारा जो आहार शरीर में प्रवेश कराया जाता है वह सब कवल आहार की श्रेणी में है।

एक आहार मनोभक्षी भी है जो कि देवताओं के होता है।

१ रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र।

इन्द्रिय पर्याप्ति इन्द्रियों के विषय को जानने में सहायक है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया, बोलने की क्रिया और आलोचना की क्रिया क्रमशः श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति की सहायता से होती है।

पर्याप्ति प्राणी का एक विलक्षण लक्षण है। प्राणी के सिवाय यह लक्षण अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। पर्याप्तियों के द्वारा प्राणियों में विभिन्न पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और मोचन होता रहता है।

आहार पर्याप्ति के द्वारा हम आहार के योग्य पुद्गलों को लेते हैं उन्हें आहार के रूप में परिणमाते हैं और छोड़ देते हैं। शरीर पर्याप्ति के द्वारा शरीर के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, शरीर के रूप में परिणमाते हैं और छोड़ देते हैं। इन्द्रिय पर्याप्ति के द्वारा इन्द्रिय के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, इन्द्रिय के रूप में परिणमाते हैं और छोड़ देते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के द्वारा श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को लेते हैं श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणमाते हैं और छोड़ देते हैं। भाषा पर्याप्ति के द्वारा भाषा के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, भाषा के रूप में परिणमाते हैं और छोड़ देते हैं। मनः पर्याप्ति के द्वारा, मानस विचारों के योग्य पुद्गलों को लेते हैं, मानस विचारों के रूप में परिणमाते हैं और छोड़ देते हैं।

बोल छठा

प्राण दश—

---

(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्राण (२) चक्षुरिन्द्रिय प्राण
(३) घ्राणेन्द्रिय प्राण (४) रसनेन्द्रिय प्राण
(५) स्पर्शनेन्द्रिय प्राण (६) मनो बल
(७) वचन बल (८) काय बल
(९) श्वासोच्छ्वास प्राण (१०) आयुष्य प्राण

प्राण अर्थात् जीवन शक्ति। जिन के संयोग से यह जीव जीवन अवस्था को प्राप्त हो और वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त हो, उनको प्राण कहते हैं। प्राण जीव के वाह्य लक्षण हैं। ये जीव हैं जीते हैं—ऐसी प्रतीति प्राणों से ही होती है। प्राणों के बिना कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता। प्राणों की क्रिया संचालन होती रहती है—यही संसारी जीव का जीवन है।

पांचों ही इन्द्रियों की जो ज्ञान करने की शक्ति है उसे कहते हैं पांच इन्द्रिय प्राण। मनन करने की, बोलने की और शारीरिक क्रिया करने की शक्ति को कहते हैं मनो बल वचन बल और काय बल। बल व प्राण का अर्थ एक ही है। पुद्गलों को

श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करने को कहते हैं श्वासोच्छ्वास प्राण। अमुक भव में अमुक काल तक जीवित रहने की शक्ति को कहते हैं—आयुष्य प्राण।

प्रश्न—प्राण और पर्याप्ति में क्या भेद है?

उत्तर—प्राण आत्मिक शक्ति है और पर्याप्ति आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुये पुद्गलों की शक्ति है। पर्याप्ति सहकारी कारण है और प्राण कार्य है। आत्मा की जितनी भी मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृत्ति होती है वह सब वाह्य द्रव्यापेक्ष है, अर्थात् पुद्गल ग्रहण करने से ही होती है। वायुयान आकाश में तभी घूम सकता है जब कि उसे पेट्रोल आदि वाह्य सामग्री की सहायता हो। आत्मा की मन वचन और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी ऐसी प्रवृत्ति नहीं जो कि पुद्गल द्रव्य की सहायता के विना हो सके। अतएव संसार अवस्था में आत्मा और पुद्गल का घनिष्ट[1] सम्बन्ध रहता है। आत्मा अदृश्य पदार्थ है और पुद्गल दृश्य पदार्थ है, इसी कारण कई व्यक्तियों को आत्मा के अस्तित्व के विषय में संदेह हो जाता है पर उन्हें इतना तो समझ लेना चाहिये कि जो कुछ खाने पीने चलने फिरने वोलने आदि की क्रिया दीख पड़ती है वह क्रिया है उसका कर्त्ता अदृश्य आत्मा है। आत्मा जवतक

१ गहरा।

शरीर में रहती है तबतक ही ये क्रियायें होती है। इन क्रियाओं का सम्पादन करने वाली आत्मा की शक्ति प्राण या जीवन-शक्ति कहलाती है और इन क्रियाओं के सम्पादन में जिन पौद्गलिक शक्तियों की सहायता मिलती है उनको पर्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न—कौन कौन से प्राण की कौन कौन सी पर्याप्ति कारण है?

उत्तर—पाँच इन्द्रिय प्राण का कारण है इन्द्रिय पर्याप्ति। मनो बल, वचन बल व काय बल का क्रमशः कारण है—मनः पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और शरीर पर्याप्ति। श्वासोच्छ्वास प्राण का कारण है श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति। आयुष्य प्राण का कारण है आहार पर्याप्ति, क्योंकि आहार पर्याप्ति के आधार पर ही आयुष्य प्राण टिक सकता है।

प्राण या जीवन शक्ति को समझने के लिये—मृत्यु क्या है?—यह समझना भी जरूरी है। वर्तमान शरीर विज्ञान के अनुसार तो दिमाग, हृदय एवं फेफड़ों का कार्य संचालन बन्द हो जाना ही मृत्यु है।

When the vital parts of the body wear out in this human machine, then naturally the whole of the machine must stop. The vital parts are regarded as the heart, the lungs and the brain. When any of these vital centres is worn out or injured by disease or accident then naturally the whole machinery of the body stops.

अर्थात् जब इस मानव-मशीन के खास खास पुर्जे जीर्ण हो जाते हैं तब यह समूची मशीन बंद हो जाती है। मानव शरीर के खास अंग हृदय, फेफड़ा तथा दिमाग है। जब किसी बीमारी, दुर्घटना या आयु से ये तीनों जख्मी या जीर्ण हो जाते हैं या इनकी शक्ति क्षीण हो जाती हैं तब इनका काम वन्द होकर मृत्यु की प्राप्ति होती है।

परन्तु इस सिद्धान्त के विपरीत हमें ऐसे भी अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं जहा हम देखते हैं कि—

The heart beat might stop for many hours even for days and then it can be revived. Respiration might stop for a long time: in fact science has recorded many cases of suspended animation, when the respiration and the heart beat stopped for 48 hours in the least. But there have been other cases where men have been buried alive in a hermetically sealed box for 40 days and afterwards they were taken out and revived they lived, they married and enjoyed all the blessings of life afterwards.

हृदय की गति कई घण्टों तक बंद रहने के वाद भी मनुष्य जीवित रह सकता है ऐसे अनेक उदाहरणों का रिकार्ड मिलता है जिन में कम से कम ४८ घण्टों तक श्वास की गति एवं हृदय की गति एक दम वन्द रहने के पश्चात् भी मानव जीवित पाया गया है और ऐसे भी कई उदाहरण मौजूद है जिन में मानव ४० दिनों तक वक्स में (जिन में हवा के प्रवेश व निकास का कोई भी

छिद्र न हो) बन्द रहने के बाद भी जीवित निकला है और बाद में उसने विवाह आदि कर संसारिक सुख भी भोगे।

जैन सिद्धान्त Vital parts सिर्फ दिमाग हृदय या फेफड़े को ही नहीं मानता परन्तु आत्मगत दश प्राण या जीवन शक्तियां मानता है। इन दशों में से किसी एक शक्ति का काम बन्द हो जाने पर मानव की मृत्यु स्वीकार नहीं करता। सम्पूर्ण मृत्यु तो समस्त दशों शक्तियों के नष्ट होने से ही होगी। जबतक आयुष्य प्राण कायम है तबतक किसी एक शक्ति का काम बन्द हो जाने पर भी प्राणी जीवित ही कहा जायगा। उपरोक्त उदाहरण में ४० दिनों तक बक्स में बन्द प्राणी के पांचों इन्द्रियां, हृदय फेफड़े व दिमाग सभी ने काम बन्द कर दिया था, क्योंकि वाह्य पौद्गलिक सामग्री के अभाव में हृदय फेफड़ा आदि कोई भी तो काम नहीं कर सकता। स्थूल दृष्टि से ऐसे प्राणी में जीवन का कोई भी चिह्न नहीं दीख रहा है परन्तु जैन सिद्धान्त इसका यों समाधान करेगा कि उस प्राणी में अभीतक आयुष्य प्राण बाकी है और उसी के आधार पर उसका जीवन टिका हुआ है और पुनः भी वाह्य पौद्गलिक सामग्री का संयोग होने पर वे नवों शक्तियां अपना कार्य चालू कर सकती हैं।

शरीर की समस्त क्रियायें, समस्त अंगो का कार्य संचालन तभीतक हो सकता है जबतक कि आयुष्य प्राण है। आयुष्य के समाप्त होते ही समस्त क्रियायें सम्पूर्ण रूप से बंद हो जाती है और हम कहते हैं कि इस प्राणी की मौत हो चुकी है।

प्रश्न—(१) शरीर हृष्ट पुष्ट है। दिमाग, हृदय, फेफड़ा, पांचों इन्द्रियां आदि सभी अंग स्वस्थ हैं। कोई ख़ास बीमारी व दुर्घटना भी नहीं होती। फिर भी ऐसा स्वस्थ प्राणी अचानक मर जाता है। ऐसा क्यों?

(२) शरीर वृद्ध है। देह जर्जरित है। उस पर भयानक आफ़त भी आ पड़ी है। भयंकर बीमारी भी हुई है फिर भी वह नहीं मरता। जीवन काल को बढ़ाये ही जा रहा है। इसका कारण क्या?

(३) कहा जाता है कि मनुष्य की जितनी आयु होती है, उतना ही वह जीता है। आयुष्य को कोई एक मिनट भी घटा बढ़ा नहीं सकता। फिर भी हम देखते हैं कि अग्नि में कूदने से निश्चय ही मृत्यु होगी। तीव्र विष खाने से मरना ही होगा। इसका रहस्य क्या?

उत्तर—जैन सिद्धान्त आयु दो प्रकार की मानता है—अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय।

अपवर्त्तनीय—जो आयु बन्ध कालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही भोगी जा सके वह अपवर्त्तनीय आयु है।

अनपवर्त्तनीय—जो आयु बन्ध कालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्त्तनीय आयु है।

भावी यानी आगामी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में ही निर्माण की जाती है। उस समय अगर परिणाम मन्द हो तो आयु का बन्ध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर आयु की बन्धी हुई काल मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत अगर परिणाम तीव्र हो तो आयु का बन्ध भी गाढ़ होता है, जिस में निमित्त मिलने पर भी बन्धी हुई काल मर्यादा घटती नहीं। तीव्र परिणाम जनित गाढ़ बन्ध आयु शस्त्र, विष दुर्घटना आदि के प्रयोग होने पर भी अपनी नियत काल मर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती परन्तु मन्द परिणाम जनित शिथिल बन्ध आयु शस्त्र विष दुर्घटना के प्रयोग होते ही, अपनी नियत काल मर्यादा समाप्त होने के पहले ही अन्त-र्मुहूर्त[1] मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्त्तना या अकाल मृत्यु या Accidental death कहते हैं और नियत स्थिति तक आयु को भोग लेने को अनपवर्त्तना या काल मृत्यु या स्वाभाविक मृत्यु— Natural death कहते हैं।

१ यह जैन परिभाषिक शब्द है। एक अन्त-र्मुहूर्त्त करीब ४८ मिनट का होता है।

अपवर्त्तनीय आयु—यह आयु सोपक्रम—उपक्रम सहित होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकाल मृत्यु होती है, उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्त्तनीय आयु के होता है।

अनपवर्त्तनीय आयु—यह आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है अर्थात् इस आयु को अकाल मृत्यु लानेवाले उक्त निमित्तों की प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती। उक्त निमित्त मिलने पर भी अनपवर्त्तनीय आयुवाले की आयु पूर्ण नहीं होती, वह जीवित ही रहता है। ये अकाल मृत्यु किसी भी हालत में प्राप्त नहीं कर सकते। हरेक प्रकार की दुर्घटना में ये बच निकलते हैं।

नारक और देव, असंख्यात वर्ष जीवी कुछ मनुष्य और कुछ तिर्यंच अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं। इनकी आयु स्थिति जितनी नियत होती है उतनी ही रहती है। इसके पहले वे किसी भी हालत में मर नहीं सकते।

तीर्थंकर केवली, इसी जन्म में मोक्ष जानेवाले जीव तथा चक्रवर्ती, वासुदेव आदि जो उत्तम पुरुष हैं वे सोपक्रम अनपवर्त्तनीय तथा निरुपक्रम

अनपवर्त्तनीय आयु दोनों तरह की आयु वाले होते हैं। अतः ये भी अकाल मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकते। विष का, अग्नि का, तीक्ष्ण शस्त्रों का प्रयोग होने पर भी ये बच ही निकलेंगे।

उपरोक्त जीवों के सिवाय सभी मनुष्य तथा तिर्यंच अपवर्त्तनीय तथा अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं। निमित्त मिलने पर इनकी अकाल मृत्यु हो भी सकती है और शायद निमित्त मिलने पर अकाल मृत्यु न भी हो।

जैन कर्मवाद सिद्धान्त के अनुसार हम इसका इस प्रकार स्पष्टीकरण कर सकते हैं कि जो आयुष्य कर्म चिरकाल तक भोगा जानेवाला है वह कर्म एक साथ जल्दी ही भोग लिया जाता है। उसका कोई भी भाग बिना भोगे नहीं छूटता। उदाहरणार्थ (१) जैसे यदि घास की सघन राशि में एक तरफ से छोटी सी अग्नि की चिनगारी छोड़ दी जावे तो वह चिनगारी एक एक तिनके को क्रमशः जलाते जलाते

उस सारी राशि को जलाने में काफी समय लगा सकती है, परन्तु वही चिनगारी अगर घास की शिथिल राशि में चारों ओर से छोड़ दी जावे तो कुछ ही क्षण में वह समूची राशि को जला डालेगी। (२) दो समान माप के टुकड़े समान पानी में भिगोये गये। उन में से एक कपड़े को फैला कर सुखाया गया और दूसरे को समेट कर। पहला जल्दी सूखेगा दूसरा बहुत देरी से। पानी का परिमाण और कपड़े की शोषण क्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और फैलाव के कारण सूखने में देरी और जल्दी का फर्क पड़ता है। इसी प्रकार समान परिमाण युक्त अपवर्त्तनीय ओर अनपवर्त्तनीय आयु के भोगने में भी सिर्फ देरी और जलदी का ही अन्तर पड़ता है और कुछ नहीं।

जैन दर्शन के इस सिद्धान्त के आधार पर स्वाभाविक मृत्यु या अकाल मृत्यु का प्रश्न बहुत आसानी से हल किया जा सकता है।

— —

बोल सातवां

शरीर पांच —

पंच सरीरा पण्णत्ता तंजहा, ओरालिए,

वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए ।

—पन्नवणा सूत्र १७६

(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस, (५) कार्मण ।

जिसके द्वारा चलना फिरना खाना पीना आदि क्रियायें हो सकती हो, जिसमें प्रतिक्षण जीर्ण शीर्ण होने का स्वभाव हो और जो शरीर-नाम-कर्म-के उदय से बनता हो तथा जो संसारी आत्माओं का निवास स्थान हो उसे शरीर कहते हैं ।

औदारिक शरीर ।

सब से स्थूल पुद्गलों का जो शरीर होता है वह औदारिक शरीर है । वैक्रिय आदि चारों शरीर सूक्ष्म सूक्ष्मतर पुद्गलों के बने हुये होते हैं । औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद भी टिक सकता है परन्तु वैक्रिय आदि शरीर आत्मा से अलग होते ही बिखर जाते हैं । औदारिक शरीर का छेदन भेदन किया जा सकता है, परन्तु अन्य शरीरों में छेदन भेदन सम्भव नहीं । मोक्ष की प्राप्ति भी सिर्फ

औदारिक शरीर ही से हो सकती है। औदारिक शरीर में हाड, मांस, रक्त, राद आदि होते हैं और इसका स्वभाव है गलना, सड़ना एवं विनाश होना।

वैक्रिय शरीर।

जो शरीर छोटापन, बड़ापन, सूक्ष्मता, स्थूलता, एक रूप, आदि विविध क्रियायें कर सकता है वह वैक्रिय शरीर है। जिस शरीर में हाड़, मांस, रक्त, राद आदि न हों तथा जो मरने के बाद कपूर की तरह बिखर जाय उसको वैक्रिय शरीर कहते हैं।

आहारक शरीर।

चतुर्दश-पूर्वधर-मुनि आवश्यक कार्य उत्पन्न होने पर जो विशिष्ट विशिष्ट पुद्गलों का शरीर बनाते हैं वह आहारक शरीर है[1]

तैजस शरीर।

जो शरीर खाये हुये आहार आदि को पचाने में समर्थ है और जो तेजोमय है वह तैजस शरीर है।

---

१ आहारक शरीर।

तत्त्वों में कोई शका होने पर तीर्थङ्कर या केवली के निकट जाने के लिये लब्धि-धर-मुनि अपने शरीर में से एक हाथ का पुतला निकालते

कार्मण शरीर।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर का प्रवाह रूप से अनादि सम्बन्ध है अर्थात् अनादि काल से ये दोनों शरीर आत्मा के साथ अभिन्न सम्बन्ध किये हुये हैं। औदारिक शरीर जन्म सम्बन्धी है। वैक्रिय शरीर जन्म सम्बन्धी और लब्धि जन्य भी होता है। आहारक शरीर योग-शक्ति-जन्य ही होता है। औदारिक वैक्रिय और आहारक शरीर अङ्गोपांग सहित होते हैं। औदारिक आदि चारों शरीरों का निमित्त है कार्मण शरीर और कार्मण शरीर का निमित्त है पांच आश्रव। कार्मण शरीर सारे शरीरों की जड़ है, क्योंकि यह कर्म-स्वरूप है और कर्म ही सब कार्यों का निमित्त कारण है।

हैं एवं उस पुतले को तीर्थङ्कर या केवली के पास भेजते हैं। यदि वहाँ से तीर्थङ्कर या केवली विहार कर गये हों तब वहां पर उस एक हाथ लम्बे पुतले में से मुंड हाथ का पुतला निकलता है। यह पुतला तीर्थंकर व केवली के पास जाकर प्रश्न का उत्तर लेकर एक हाथ वाले पुतले में प्रवेश करे और पुनः एक हाथ का पुतला मुनिराज के शरीर में प्रवेश करे एवं मुनिराज प्रश्न का उत्तर दे। यह समूची क्रिया अत्यन्त अल्प-काल में ही सम्पन्न हो जाती है। प्रश्न-कर्त्ता को पता भी नहीं चल सकता कि मैंने उत्तर विलम्ब से पाया है।

आत्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर मे कैसे प्रवेश कर सकती है ?— यह समस्या आत्म-वादियों को भी जटिल जान पड़ती है, पर कार्मण शरीर से यह सरलता से सुलझ जाती है। जबतक मुक्ति नहीं होती तबतक आत्मा अशरीरी भी नहीं होती। आत्मा एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरे स्थूल शरीर में तभी प्रवेश कर सकती है जब कि कार्मण शरीर आत्मा के साथ लगा रहे। तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है अतः सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को रोक नहीं सकती। सूक्ष्म वस्तु विना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है जैसे अति कठोर लोह-पिण्ड मे अग्नि।

तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवों के संसार काल पर्यन्त अवश्य होते हैं पर औदारिक आदि बदलते रहते हैं, इससे वे कभी होते हैं कभी नहीं।

एक साथ एक संसारी जीव के कम से कम दो और अधिक से अधिक चार तक शरीर हो सकते हैं, पाच कभी नहीं।

बोल आठवाँ

योग पन्द्रह —

मन वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। मन वचन और काय वर्गणा[1] के पुद्गलों की सहायता से, आत्म-प्रदेशों

---

[1] एक ही जाति वाले पुद्गल समूह को वर्गणा कहते हैं।

में होने वाले परिस्पंदन, Vibration, कम्पन, हलन चलन व चंचलता को योग कहते हैं ।

मुख्यतया योग के तीन भेद हैं—मनो योग, वचन योग और काय योग। उनके आवान्तर भेद करने से १५ भेद हो जाते हैं जैसे :—

मनोयोग के ४ भेद— (१) सत्य मनोयोग
(२) असत्य मनोयोग
(३) मिश्र मनोयोग
(४) व्यवहार मनोयोग

वचन योग के ४ भेद— (५) सत्य वचन योग
(६) असत्य वचन योग
(७) मिश्र वचन योग
(८) व्यवहार वचन योग

काय योग के ७ भेद— (९) औदारिक काय योग
(१०) औदारिक मिश्र काय योग
(११) वैक्रिय काय योग
(१२) वैक्रिय मिश्र काय योग
(१३) आहारक काय योग
(१४) आहारक मिश्र काय योग
(१५) कार्मण काय योग

प्रत्येक योग दो प्रकार के हैं –द्रव्य योग और भाव योग। आत्मा अपनी प्रवृत्ति में जिन पुद्गलों का सहारा लेती है उनको

कहते हैं द्रव्य योग और जो आत्मा का मानसिक, वाचिक व कायिक व्यापार (कार्य रूप में परिणत होना) होता है उसे कहते हैं भाव योग।

मनो योग :—

मनो योग दो प्रकार का है—द्रव्य मनो योग, भाव मनो योग। मन की प्रवृत्ति के लिये जो मनो वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं उनको कहते हैं द्रव्य मनो योग। आत्मा उन गृहीत पुद्गलों की सहायता से जो मनन करती है या दीर्घ कालीन (भूत भविष्यत् वर्तमान एवं त्रिकालवर्त्ती) विचारणा-आलोचना करती है वह है भाव मनो योग।

मनो योग के चार भेद किये गये हैं यथा :—

(१) सत्य मनो योग—सत्य विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति।

(२) असत्य मनो योग—असत्य विषय में होने वाली मन की प्रवृत्ति।

(३) मिश्र मनो योग—कतिपय अंशों में सत्य और कतिपय अंशों में असत्य—ऐसे मिश्र अंशों में होने वाली मन की प्रवृत्ति को कहते हैं मिश्र मनो योग।

(४) व्यवहार मनो योग—मन का जो व्यापार सत्य नहीं है, असत्य भी नहीं है वह है व्यवहार

मनो योग। आदेश उपदेश आदि देने का विचार करना व्यवहार मनो योग है।

वचन योग :—

वचन योग दो प्रकार का है—द्रव्य वचन योग, भाव वचन योग। भाषा वर्गणा के पुद्गलों को कहते हैं—द्रव्य वचन योग और जो भाषा प्रवर्तक जीव का प्रयत्न विशेष है वह है भाव वचन योग। वचन योग के चार भेद हैं—सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, मिश्र वचन योग व्यवहार वचन योग। मन की तरह भाषा का भी अर्थ समझ लेना चाहिये।

सत्य वचन योग—सत्य भाषा।

सत्य भाषा के दश भेद हैं यथा :—

(१) जन-पद-सत्य।

जिस देश में जैसी भाषा बोलने में काम आती है उस देश में वह नाम सत्य है। मारवाड़ में चोखा कहते हैं अच्छे को और मेवाड़ में चोखा कहते हैं चावल को।

(२) सम्मत-सत्य।

प्राचीन विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है उस अर्थ में वह शब्द सम्मत सत्य है। कमल और मेंढ़क दोनों ही पंक (कीचड़) में

उत्पन्न होते हैं तो भी पंकज कमल को ही कहते हैं, मेढ़क को नहीं।

(३) स्थापना सत्य।

किसी भी वस्तु की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना स्थापना सत्य है। यथा 'क' इस आकार विशेष को ही 'क' कहना। एक के आगे दो शून्य लगाने से सौ और तीन शून्य लगाने से हजार कहना १००—१०००। शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, ऊंठ, वजीर आदि कहना।

(४) नाम सत्य।

गुण विहीन होने पर भी किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रख कर उस नाम से पुकारना नाम सत्य है। नाम तो है लक्ष्मीपति परन्तु है वह दीन हीन कंगाल।

(५) रूप सत्य।

किसी रूप विशेष धारण करने पर उस व्यक्ति को उस रूप विशेष से पुकारना जैसे साधू का भेष देख कर किसी व्यक्ति को साधू कहना।

(६) प्रतीत सत्य। अपेक्षा सत्य।

एक वस्तु की अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बड़ी हल्की भारी आदि कहना प्रतीत सत्य है।

जैसे अनामिका अंगूली (Index finger) कनिष्ठा (Little finger) की अपेक्षा से बड़ी और मध्यमा (Middle finger) की अपेक्षा से छोटी है।

(७) व्यवहार सत्य। लोक सत्य।

जो बात व्यवहार में बोली जाय वह व्यवहार सत्य है। जैसे पहुंचती तो है गाड़ी और हम कहते हैं डूंगरगढ़ आ गया। रास्ता, मार्ग तो स्थिर है, चल नहीं सकता फिर भी हम कहते हैं यह मार्ग डूंगरगढ़ को जाता है। जलती तो है पर्वत पर पड़ी हुई लकड़ियाँ परन्तु हम कहते हैं पर्वत जल रहा है। पड़ता तो है पानी परन्तु हम कहते हैं परनाला पड़ रहा है।

(८) भाव सत्य।

किसी वस्तु में जो भाव उत्कृष्ट रूप से मिलता है उसे लेकर सत्य का प्रतिपादन करना भाव सत्य है। सभी दृश्यमान पदार्थ पांच वर्ण के होते हैं फिर भी किसी को काला, किसी को धोला कहना। तोते में कई रंग होते हैं फिर भी उसे हरा कहना।

(९) योग सत्य।

योग अर्थात् सम्बन्ध से किसी व्यक्ति विशेष को

उस नाम से पुकारना योग सत्य है। अध्यापक को अध्यापन काल के बिना भी अध्यापक ही कहना।

(१०) उपमा सत्य।

किसी एक बात में समानता होने पर एक वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना उपमा सत्य है। उपमा चार प्रकार की होती है :—

(क) सत् (विद्यमान) को असत् (अविद्यमान) की उपमा जैसे तीर्थंकर में इतना बल होता है कि वे मेरु को दण्ड और पृथ्वी को छत्र बना सकते हैं पर वे वैसा करते नहीं। यहाँ सत् बल की असत् से उपमा दी गयी है।

(ख) असत् को सत् की उपमा जैसे सूर्य का पश्चिम दिशा के साथ संगम देख कर पूर्व दिशा ने अपना मुख काला कर लिया, चूंकि स्त्रियाँ ईर्ष्या के बिना नहीं मिलती। इस वाक्य में असत् ईर्ष्या को सत् ईर्ष्या की उपमा दी गयी है।

(ग) असत् को असत् की उपमा—जैसे चन्दन का फूल आकाश कमल के समान सुवासित है। न तो चन्दन में फूल होता है और न आकाश

में कमल। यहाँ असत् को असत् की उपमा है।

(घ) सत् को सत् की उपमा—जैसे आंखें कमल के समान विकसित हैं।

असत्य वचन योग—असत्य भाषा-मृषावाद।

इस के दश भेद किये गये हैं :—

(१) क्रोध मिश्रित—जो वचन क्रोध में बोला जाय।

(२) मान मिश्रित—जो वचन मान, अहंकार व घमण्ड के आवेश में बोला जाय।

(३) माया मिश्रित—कपट सहित बोलना। दूसरे को धोखा देने के लिये बोलना।

(४) लोभ मिश्रित—लोभ में आकर वोलना।

(५) राग मिश्रित—प्रेम मोह के वशीभूत होकर वचन बोलना।

(६) द्वेप मिश्रित—द्वेप सहित वचन बोलना।

(७) हास्य मिश्रित—हंसी में वोलना।

(८) भय मिश्रित—चोर डकैत से डर कर वचन बोलना।

(९) आख्यायिका मिश्रित—आख्यायिका-कहानी कहते समय असंभव बातें कह डालना। राग द्वेष को बढ़ाने वाली कल्पित कहानियाँ कहना।

(१०) उपघात मिश्रित—प्राणियों की हिंसा हो—ऐसी बात बोलना।

मिश्र वचन योग—मिश्र भाषा।

जिस भाषा में कुछ सत्य और कुछ असत्य हो उसे मिश्र भाषा कहते हैं मिश्र भाषा के दश भेद हैं :—

(१) उत्पन्न मिश्रित—जितने बच्चों का जन्म हुआ है उस से न्यूनाधिक बताना।

(२) विगत मिश्रित इसी प्रकार मरण के विषय में न्यून व अधिक बताना।

(३) उत्पन्न-विगत-मिश्रित—जन्म मृत्यु दोनों के विषय में न्यूनाधिक बताना।

(४) जीव मिश्रित—जीव अजीव की विशाल राशि को देख कर कहना ओह! यह कितना बड़ा जीवों का समूह है। किन्तु इस में बहुत से मरे हुये भी तो होंगें।

(५) अजीव मिश्रित—कूड़े कचरे के ढेर को देख कर यह कहना—यह सब अजीव है। किन्तु इसमें बहुत से जीव भी तो मिलेंगे।

(६) जीवाजीव मिश्रित जीव अजीव की राशि में अयथार्थ रूप से यह बताना कि इसमें इतने जीव हैं और इतने अजीव।

(७) अनन्त मिश्रित—आलू आदि अनन्त काय का समूह देख कर यह कहना—यह सब तो अनन्त

काय है। किन्तु इसमें प्रत्येक काय भी तो मिल सकती है।

(८) प्रत्येक मिश्रित—इसी प्रकार प्रत्येक काय के ढेर में अनन्त काय भी मिल जाय।

(६) अद्धा मिश्रित दिन रात आदि काल के विषय में मिश्र वचन बोलना जैसे दिन उगने वाला है फिर भी सुप्त पुरुष कहता है—अभीतक तो दोपहर रात पड़ी है।

(१०) अद्धाद्धा मिश्रित—दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं। दिन उगा ही है तथापि मालिक नौकर से कहता है-अरे! दोपहर हो गया और अभी तक दीपक जल रहा है।

व्यवहार वचन योग— व्यवहार भाषा।

व्यवहार भाषा के १२ भेद हैं जैसे—

(१) आमंत्रिणी - सम्बोधन करना जैसे हे प्रभो!

(२) आज्ञापनी—आज्ञा देना जैसे यह काम करो।

(३) याचनी—याचना करना जैसे यह चीज हमें दो।

(४) प्रच्छनी—पूछना जैसे किसी विषय में सन्देह होने पर पूछ कर उसकी निवृत्ति करना।

(५) प्रज्ञापनी—परूपणा करना जैसे जीव है, अजीव है इत्यादि।

(६) प्रत्याख्यानी—त्याग करना, मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊंगा।

(७) इच्छानुलोमा- इच्छानुसार अनुमोदन करना जैसे किसी ने पूछा-मैं अमुक काम करूँ या नहीं तब उसे उत्तर देना तूं कर, मैं तेरे काम का अनुमोदन करता हूं।

(८) अनभिगृहीता—अपनी सम्मति प्रकट न करना, जैसे किसी ने पूछा- मैं यह काम करूं तो उत्तर देना जैसी तुम्हारी इच्छा हो।

(९) अभिगृहीता—सम्मति देना जैसे यह काम तुम्हें करना चाहिये।

(१०) संशय कारिणी—जिस शब्द के अनेक अर्थ हैं उस का प्रयोग करना जैसे सैंधव लाओ। यहाँ सैंधव शब्द से सन्देह हो जाता है- घोड़ा या नमक।

(११) व्याकृत—विस्तार सहित बोलना, जिससे स्पष्ट समझ में आ जावे।

(१२) अव्याकृत—अति गम्भीरता युक्त बोलना जो कि समझ में आना कठिन हो जाय।

काय योग।

काय यानी शरीर की प्रवृत्ति के लिये जो शरीर वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वह है द्रव्य काय योग

और उन पुद्गलों की जो प्रवृत्ति है वह है भाव काय योग।

काय योग के ७ भेद हैं जैसे :—

(१) औदारिक काय योग। औदारिक शरीर वाले मनुष्यों और तिर्यञ्चों में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जो हलन चलन की क्रिया होती है वह है औदारिक काय योग।

(२) औदारिक मिश्र काय योग। यह चार प्रकार से हो सकता है जैसे :

(क) मनुष्य एवं तिर्यंच गति में उत्पन्न होने के समय जीव आहार ले लेता है, परन्तु शरीर पर्याप्ति का बन्ध पूर्ण नहीं हो पाता उस अवस्था में कार्मण काय योग के साथ औदारिक मिश्र होता है।

(ख) वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्य और तिर्यंच वैक्रिय रूप बनाते हैं परन्तु जबतक वह पूर्ण नहीं होता तबतक वैक्रिय काय योग के साथ औदारिक मिश्र काय योग होता है।

(ग) विशिष्ट शक्ति सम्पन्न योगी आहारक लब्धि को काम में लाता है परन्तु जबतक आहारक शरीर पूरा नहीं बन जाता तबतक आहारक के साथ औदारिक मिश्र योग होता है।

(घ) केवली समुद्घात के दूसरे, छवें, और सातवें समय में कार्मण के साथ औदारिक मिश्र होता है।

(३) वैक्रिय काय योग।

देवता और नारकी मे शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वैक्रिय शरीर की तथा मनुष्य और तिर्यंच में लब्धि जन्य वैक्रिय शरीर की जो क्रिया होती है वह वैक्रिय काय योग है।

(४) वैक्रिय मिश्र काय योग। यह दो प्रकार का होता है जैसे :—

(क) देवता और नारकी में उत्पन्न होने वाला जीव आहार ले लेता है परन्तु शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं बांधता है उस अवस्था में कार्मण योग के साथ वैक्रिय मिश्र होता है।

(ख) औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्यंच अपनी विशिष्ट शक्ति से वैक्रिय रूप बनाते हैं और उसको फिर समेटते हैं परन्तु जब तक औदारिक शरीर पुनः पूर्ण न बन जावे तबतक औदारिक के साथ वैक्रिय मिश्र योग होता है।

(५) आहारक काय योग।

जब आहारक शरीर पूरा बन कर क्रिया करता है तब उसको कहते हैं आहारक काय योग।

(६) आहारक मिश्र काय योग।

जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय औदारिक के साथ आहारक मिश्र होता है।

(७) कार्मण काय योग।

जीव एक भव से दूसरे भव में जाने के लिये वाध्य होकर ऋजु गति या वक्र गति के द्वारा गमन करता है। यहाँ एक समय वाली गति में तो जीव अनाहारक नहीं रहता परन्तु वक्र गति में जघन्यतः एक समय उत्कृष्ट दो समय अनाहारक रहता है, यानी किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता। ऐसे समय में होने वाले योग का नाम है कार्मण काय योग। जब केवली समुद्घात[1] करते हैं उस

---

१ केवली समुद्घात—आयुष्य कर्म की स्थिति और दलिक से जब वेदनीय नाम और गोत्र कर्म की स्थिति और दलिक अधिक होते हैं तव उनको आपस में बराबर करने के लिये केवली समुद्घात होता है। जब सिर्फ अन्तर्मुहूर्त आयुष्य बाकी रहता है तभी समुद्घात होता है। समुद्घात में आठ समय लगता है। पहले समय में आत्म-प्रदेश शरीर से बाहर निकल कर दण्डाकार फैल जाते हैं। वह दण्ड ऊंचाई नीचाई में लोक प्रमाण होता है पर उसकी मोटाई शरीर के बराबर ही होती है। दूसरे समय में उक्त दण्ड पूर्व पश्चिम या उत्तर दक्षिण फैल कर कपाटाकार-किवाड़ के आकार का बन जाता है।

वक्त तीजे, चौथे एवं पांचवें समय में कार्मण योग होता है।

प्रश्न—चार शरीर की भांति तैजस शरीर का योग क्यों नहीं ?

उत्तर—तैजस का कार्मण योग में समावेश हो जाता है, क्योंकि जिस समय औदारिक वैक्रिय आहारक होते हैं उस समय तो वे अपना काम करते ही हैं परन्तु जिस समय (एक भव से दूसरे भव में जाने के समय) वे नहीं होते हैं तब कार्मण शरीर के द्वारा जो वीर्य शक्ति का व्यापार होता है वही तैजस शरीर के द्वारा होता है, इस लिये तैजस काय योग का समावेश कार्मण काय योग में हो जाता है।

मन

प्रश्न—मन क्या है ?

उत्तर—जिसके द्वारा मनन किया जाय, सोचा जाय, विचारा जाय वह मन है। मन पांच इन्द्रियों के विषयों का

तीसरे समय में कपाटाकार आत्म प्रदेश पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण फैल कर मन्थाकार-मन्थनी के आकार के बन जाते हैं। चौथे समय में खाली भागों में फैल कर आत्म प्रदेश समूचे लोक में व्याप जाते हैं। जिस प्रकार प्रथम चार समय में आत्म प्रदेश क्रमशः फैलते हैं वैसे ही अन्त के चार समय में क्रमशः सिकुड़ते हैं। पांचवें समय में फिर मन्थाकार, छठे समय में कपाटाकार, सातवें समय में दण्डाकार और आठवें समय में पहले की भांति शरीरस्थ हो जाते हैं।

ज्ञान ग्रहण कर सकता है और अपने विषय का ज्ञान भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों ही काल में कर सकता है।

मन का स्वरूप—मन ज्ञान है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण गुणी से किसी अपेक्षा से भिन्न होता है और किसी अपेक्षा से अभिन्न। यदि गुण गुणी से सर्वथा भिन्न माना जाय, तो यह गुण इस द्रव्य का है यह सम्बन्ध भी नहीं हो सकता और यदि सर्वथा एक ही मान लिया जाय, तो यह गुण है यह गुणी है—ऐसा नहीं कह सकते। अतएव गुणी से गुण कथंचित भिन्न होता है जौर कथंचित अभिन्न होता है। मन आत्मा से कदापि पृथक् नहीं हो सकता, इस अपेक्षा से वह आत्मा से अभिन्न है और वह आत्मा का गुण है। परन्तु फिर भी आत्मा और मन दो अलग वस्तुयें हैं। अतः मन आत्मा से भिन्न है।

इस विषय को और भी खुलासा करने के लिये स्वामी अभेदानन्द की निम्नोक्त पंक्तियाँ कुछ उपयोगी हो सकती हैं

The mind can be divided as subjective and objective mind Subjective mind is that medium through which the objective mind, which is directly connected with the brain and with the external world through the gate way of the five sense organs (इन्द्रियाँ), receives intelligence from the soul. The subjective

mind is in close touch with the soul and objective mind is in close touch with the brain.

The objective mind through the gates of senses comes in contact with the body, receives information regarding the physical environment in which it lives and conveys this information to the subjective mind or soul. If there were no mind (objective) the soul आत्मा would be sightless, hearingless, smell less, tasteless and touchless

अर्थात् मन के दो भाग किये जा सकते हैं—भाव मन (Subjective mind) और द्रव्य मन (Objective mind)। द्रव्य मन का सम्बन्ध दिमाग़ (B ain) या इन्द्रियों से है। द्रव्य मन बाहरी पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय या दिमाग़ से करता है एवं फिर भाव मन के द्वारा इस ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से जोड़ देता है। भाव मन का आत्मा के साथ गहरा सम्बन्ध है और द्रव्य मन का दिमाग़ व इन्द्रिय के साथ।

अपने शरीर का ज्ञान व बाहरी दुनिया का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा होता है। इन्द्रिय इस ज्ञान को दिमाग़ तक पहुंचाती है। दिमाग़ द्रव्य मन को पहुंचाता है, द्रव्य मन भाव मन को और भाव मन आत्मा को। यदि द्रव्य मन न हो, तो हमारी आत्मा सुनने का, देखने का, सूंघने का, स्पर्श का कोई भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती।

संसारी आत्मा के द्रव्य मन अवश्य होगा परन्तु मुक्त आत्मा के द्रव्य मन नहीं होता। अतः मुक्त आत्मा को इन्द्रिय ज्ञान भी नहीं होता। वह तो सम्पूर्ण ज्ञान मय है। किसी पदार्थ को जानने के लिये उसे सूंघने की, देखने की, चखने की व स्पर्श की जरूरत नहीं। वह तो स्वयं ही सब पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से जानती है।

भाव मन या आत्मा अलग अलग नहीं किये जा सकते। दोनों एक है।

आत्मा ← भावमन ← द्रव्यमन ← दिमाग ← { ← आंख, ← कान, ← नाक, ← जीभ, ← स्पर्श } ← बाहरी दुनिया

मन का व्यापार।

स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द में इन्द्रिय ज्ञान की प्रवृत्ति होने के पश्चात् मन की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि जब इन्द्रियाँ अपने अपने विषय का ज्ञान कर लेती हैं तब उन विषयों पर मनन करना मन का काम है, इस के सिवाय चिन्तवन आदि में मन की प्रवृत्ति स्वतंत्र भी होती है।

मन का परिमाण।

मनन करने में सहायता करनेवाले पुद्गलों से निष्पन्न द्रव्य मन अर्थात् पौद्गलिक मन शरीर व्यापी है और

जो मनन करने वाला भाव मन अर्थात् जीव-मन है वह आत्म प्रदेश व्यापी है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये सब विषयों में मन की गति है और वह मन को शरीर व्यापी माने बिना घट नहीं सकती।

मन शरीर के अन्दर सर्वत्र वर्तमान है, किसी खास स्थान में नहीं। शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में वर्तमान इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये सभी विषयों में मन की गति है—"यत्र पवनस्तत्र मनः"।

द्रव्य मन और भाव मन को स्पष्टतया समझना बहुत जरूरी है। जिससे विचार किया जा सके ऐसी आत्मिक शक्ति को भाव मन कहते हैं। एवं इस शक्ति से विचार करने में सहायक होने वाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु हैं जिन्हें द्रव्य मन कहते हैं। भाव मन तो सभी जीवों के होता है परन्तु जैसे बहुत बूढ़ा आदमी पांव और चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे विना नहीं चल सकता, इसी तरह भाव मन होने पर भी द्रव्य मन के विना 'स्पष्ट विचार' नहीं किया जा सकता। इसी कारण द्रव्य मन की प्रधानता मान कर उसके भाव अभाव की अपेक्षा से मन सहित और मन रहित (संज्ञी, असंज्ञी) ऐसे दो विभाग जीवों के किये गये हैं। पृथ्वीकाय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के तो मन होता ही नहीं।

पंचेन्द्रिय के मन होता है, पर सब के नहीं। पंचेन्द्रिय के चार वर्ग हैं—देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च। इन में पहले दो वर्गों में तो सभी के मन होता है और पिछले दो वर्गों में मन उन्हीं के होता है जो गर्भोत्पन्न हो। सम्मूर्छिम मनुष्य और तिर्यञ्च के मन नहीं होता। कृमि कीड़े मकोड़े आदि में भी सूक्ष्म मन मौजूद है। अतः वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट में निवृत्ति कर लेते हैं पर यह कार्य सिर्फ देह यात्रोपयोगी है इससे अधिक नहीं। इसलिये इनको मन रहित कहा जाता है। स-मनस्क प्राणी निमित्त मिलने पर देह यात्रा के अलावा यहाँ तक विचार कर सकता है कि पूर्वजन्म की समस्त घटनावलियों का स्मरण हो सके। अतः उन्हीं को यहाँ समनस्क कहा है। देव नारक गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही समनस्क है।

बोल नवमाँ

उपयोग बारह—

ज्ञान—(१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनः पर्यव (५) केवल।

अज्ञान—(६) मति (७) श्रुति (८) विभङ्ग।

दर्शन—(६) चक्षुः (१०) अचक्षुः (११) अवधि (१२) केवल।

सामान्य या विशेष रूप से वस्तु को जान लेना उपयोग है। ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति को उपयोग कहते हैं। उपयोग के दो भेद हैं—

(१) ज्ञान —पदार्थों के विशेष बोध को साकारोपयोग या ज्ञान कहते हैं। पदार्थों के विशेष धर्म, विशेष गुण, विशेष क्रिया का ज्ञान होना साकारोपयोग है।

(२) दर्शन—पदार्थों के सामान्य बोध को निराकारोपयोग व दर्शन कहते हैं।

ज्ञान।

ज्ञान पांच प्रकार के हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मनः पर्यव ज्ञान, केवल ज्ञान।

मतिज्ञान।

पांच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होनेवाला ज्ञान है मति ज्ञान। मुख्यतया मति ज्ञान के ४ भेद किये हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

अवग्रह।

विषय (ज्ञेय वस्तु) और विषयी (जानने वाले) का योग्य सामीप्य या सम्बन्ध होने से जो वस्तु का सिर्फ स्वरूप मात्र ग्रहण किया जाता है उसका नाम है अवग्रह। अवग्रह दो प्रकार का होता है—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह।

व्यञ्जनावग्रह ।

व्यञ्जन अर्थात् शब्द आदि में परिणत पुद्गल द्रव्य समूह का उपकरणेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने से जो अव्यक्त ज्ञान होता है उसे व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है। इन्द्रियों का जब पदार्थ के साथ सम्बन्ध या सामीप्य होता है तब—यह कुछ है—ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है यह ज्ञान अर्थावग्रह है। इससे भी पहले होने वाला अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है। यह चक्षु और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों से ही होता है।

अर्थावग्रह ।

अर्थ—स्पर्श रस गन्ध रूप शब्दात्मक होता है, उसका अवग्रह अर्थात् ज्ञान करना अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह में पदार्थ के वर्ण गन्ध आदि का ज्ञान होता है।

ईहा ।

अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थों की विशेष आलोचना करने का नाम है—ईहा। अवग्रह से किसी दूर-स्थित चीज़ का ज्ञान होने पर संशय होता है कि यह दूरस्थ चीज क्या है ? मनुष्य है या और कुछ ?

शिर के हिलने डुलने एवं हाथ पैरों की क्रिया आदि दृश्यमान लक्षणों से – यह मनुष्य ही होना चाहियें— ऐसा जो ज्ञान होता है वह ईहा कहलाता है अर्थात् संशय के उपरान्त होने वाले ज्ञान का नाम ईहा है। एक वस्तु के स्पर्श होने पर यह संशय होता है कि यह स्पर्श सांप का है या रस्सी का। यहां पर यह विचारना कि यह स्पर्श सांप का नहीं, रस्सी का होना चाहिये। यदि सांप का होता तो दबने पर उसी वक्त काट खाता। पर यह रस्सी ही है यह निश्चय अभीतक नहीं हो पाया है।

अवाय।

ईहा से जाने हुये पदार्थों में यह यही है, दूसरा नहीं—ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं। उपरोक्त उदाहरणों में यह मनुष्य ही है दूसरा नहीं— ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है। प्रकाश के द्वारा देख कर यह निश्चय कर लेना कि यह रस्सी ही है, सांप नहीं।

धारणा।

अवाय से जाना हुआ पदार्थ ज्ञान जब इतना दृढ़ हो जाये कि कालान्तर में भी उसका विस्मरण न हो, तो उसे धारणा कहते हैं। निश्चित वस्तु का आत्मा में संस्कार, स्थिर रूप हो जाना धारणा है।

हमारे इन्द्रिय और मन के ज्ञान का क्रम यही है। जिनको हम अनेक बार देख चुके हैं, सुन चुके हैं, उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान परिपक्व होता है, इसलिये अवग्रह आदि होने पर भी हमें इस क्रमिक ज्ञान का अनुभव नहीं होता, पर नये सिरे से किसी पदार्थ को देखने के लिये इस क्रम का हम ठीक अनुभव करते हैं। ज्यों ही कोई चीज़ (नयी) आंखों के सामने आती है त्यों ही कुछ प्रतिभास सा होते ही यह ज्ञान होता है कि—यह कुछ है। फिर यह सन्देह उठता है कि यह क्या है ? फिर उसके चिह्नों से उसे जानने का प्रयत्न करते हैं कि "यह अमुक पदार्थ होना चाहिये" और फिर उसका निश्चय भी कर लेते हैं कि 'यह वही है और फिर उसे याद भी रखते हैं। यह क्रम अपूर्ण हो सकता है जैसे कि किसी ने एक चीज को देखा, पर यदि वह जानने की चेष्टा न करे तो उसके ईहा नहीं हो सकती केवल अवग्रह हो कर रह जाता है। इसी प्रकार अवाय और धारणा के सम्बन्ध में जानना चाहिये। इस क्रम का उलंघन नहीं हो सकता जैसे अवग्रह के बिना ईहा, ईहा के बिना अवाय और अवाय के बिना धारणा नहीं हो सकती।

अवग्रह आदि के द्योतक दूसरे शब्द:

अवग्रह — प्राथमिक ज्ञान।
ईहा — विचारणा।
अवाय — निश्चय।
धारणा — इन्द्रिय ज्ञान की स्थिति शीलता: संस्कार।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मुख्यतया पर्याय को ग्रहण करते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं। द्रव्य को वे पर्याय के द्वारा ही जानते हैं। इन्द्रिय व मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। नेत्र ने आम ग्रहण किया, इसका सिर्फ इतना ही मतलब है कि नेत्र ने आम देखा। सम्पूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया। आम में रूप और आकार के अलावा स्पर्श रस गन्ध आदि अनेक पर्याय है, जिनको जानने में नेत्र असमर्थ है। इसी प्रकार स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रिय क्रमशः किसी वस्तु के स्पर्श, रस एवं गन्ध पर्याय को ही जान सकती है। कोई भी एक इन्द्रिय उस वस्तु के सम्पूर्ण पर्याय को नहीं जान सकती। मन भी किसी वस्तु के खास अंश का ही विचार कर सकता है। एक साथ सम्पूर्ण अंशों का विचार करने में मन भी असमर्थ है।

लंगड़े मनुष्य को चलने में लकड़ी का सहारा लेना पड़ता है इसी तरह आत्मा की आवृत चेतना शक्ति को पराधीनता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में मन और इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। सब इन्द्रिय और मन का स्वभाव एक सा नहीं है, इसलिये उनके द्वारा होने वाली ज्ञानधारा के आविर्भाव का क्रम भी एक सा नहीं होता। यह क्रम दो प्रकार का है मन्दक्रम और पटुक्रम।

मन्दक्रम।

मन्दक्रम मे ग्राह्य विषय के साथ उस विषय की ग्राहक उपकरण - इन्द्रिय का संयोग - व्यञ्जन होने से ज्ञान का आविर्भाव होता है। शुरू में ज्ञान की मात्रा इतनी अल्प

होती है कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध भी नहीं होने पाता, परन्तु ज्यों ज्यों विषय और इन्द्रिय का संयोग पुष्ट होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है। जब ज्ञान-मात्रा इतनी पुष्ट हो जाये कि "यह कुछ है" ऐसा सामान्य बोध हो जाय तब उसे अर्थावग्रह कहते हैं इस अर्थावग्रह के पहले वाला ज्ञान व्यापार जो उक्त व्यञ्जन से उत्पन्न होता है और उस व्यञ्जन की पुष्टि के साथ ही क्रमशः पुष्ट होता जाता है वह सब व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। इसे अव्यक्त ज्ञान भी कह सकते हैं। अर्थावग्रह भी व्यञ्जनावग्रह का एक चरम पुष्ट अंश ही है क्योंकि इसमें भी विषय और इन्द्रियों का संयोग अपेक्षित है।

अर्थावग्रह के बाद विषय की विशेष रूप से जिज्ञासा, उसका निर्णय और धारण करना आदि ज्ञान व्यापार होते हैं जिसे ईहा, अवाय और धारणा आदि कहते हैं। इस मन्दक्रम में उपकरण-इन्द्रिय और विषय के संयोग होने की जो बात कही गयी है वह सिर्फ व्यञ्जनावग्रह के अन्तिम अंश अर्थावग्रह तक ही है। इसके बाद ईहा अवाय आदि ज्ञान व्यापार में वह संयोग अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं है। उसके बाद तो मानसिक व्यापार की प्रधानता रहती है।

पटुक्रम ।

पटुक्रम में उपकरण इन्द्रिय और विषय के संयोग की जरूरत नहीं । विषय काफी दूर होने पर भी उचित सामीप्य मात्र से इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण कर लेती है और ग्रहण होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा शुरू में ही अर्थावग्रह रूप सामान्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । इसके बाद क्रमशः ईहा, अवाय आदि ज्ञान व्यापार मन्दक्रम की तरह ही होते हैं ।

पटुक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुये बिना ही ज्ञान-धारा का आविर्भाव हो जाता है, जिसका प्रथम अंश अर्थावग्रह और अन्तिम अंश धारणा है, इसके विपरीत मन्दक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग होता है, जिसका प्रथम अंश व्यञ्जनावग्रह और अन्तिम अंश धारणा है । मन्दक्रम में व्यञ्जनावग्रह को स्थान है परन्तु पटुक्रम ज्ञानधारा में नहीं ।

नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता । ये दोनों संयोग के बिना ही उचित सामीप्य मात्र से ग्राह्य विषय को जान पाते हैं । काफी दूरी से भी नेत्र वृक्ष पर्वत आदि को ग्रहण कर लेता है और मन तो हजारों कोस स्थित वस्तु का भी चिन्तवन कर लेता है । अतः नेत्र

तथा मन अप्राप्यकारी माने गये हैं और उनसे होने वाली ज्ञानधारा को पटुक्रमिक कहा है।

कान जीभ नाक और त्वचा (स्पर्शन)—ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी मानी गयी हैं। ये मन्दक्रम ज्ञानधारा के कारण है। विषय के साथ संयोग होने से ही ये उसको ग्रहण कर सकती है। जबतक शब्द कान में न पड़े, चीनी जीभ पर न रखी जाय, पुष्प नाक से न सूंघा जाय, जल शरीर को न छूयें तबतक न तो शब्द ही सुनाई देगा, न चीनी का स्वाद ही आयेगा न फूल की सुगन्ध ही मालूम देगी और न जल ही ठण्डा या गरम जान पड़ेगा।

श्रुतज्ञान।

जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, जिससे शब्द अर्थ का सम्बन्ध जाना जाता है एवं जो मतिज्ञान के बाद होता है वह श्रुतज्ञान है। वह्नि शब्द को सुनकर यह जानना कि यह शब्द अग्नि का बोधक है अथवा अग्नि देखकर यह विचार करना कि यह वह्नि शब्द का अर्थ है—इस प्रकार शब्द से अर्थ का और अर्थ से शब्द का ज्ञान करना तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य अन्य बातों पर विचार करना श्रुतज्ञान है।

मति और श्रुतज्ञान का गाढ़तम सम्बन्ध है। इन दोनों को अलग अलग करना सम्भव नहीं। ये दोनों

कार्य कारण के रूप में हैं। मतिज्ञान कारण श्रुतज्ञान कार्य है। तात्पर्य विशेष से विशिष्ट अवस्था प्राप्त मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान सिर्फ आत्मा का मनन है और अपनी अपनी आत्मा के लिये उपयोगी है। वही मनन वर्णमाला के योग से श्रुतज्ञान हो जाता है और आदेश उपदेश आदि अनेक रूप से दूसरों के लिये उपयोगी बन जाता है। आदेश उपदेश के सम्बन्ध में जो बोलना होता है वह श्रुतज्ञान नहीं वह तो वचन योग है किन्तु बोलने का जो अर्थ है वह श्रुतज्ञान है और शब्द उस अर्थ को प्रकट करने का साधन है और द्रव्यश्रुत है।

अवधि ज्ञान।

जिस ज्ञान से बाह्य साधनों (इन्द्रिय और मन) की अपेक्षा के बिना रूपी पदार्थ जाने जायं वह अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान का विषय है समस्त लोकवर्ती मूर्त्त पदार्थ (पुद्गल)। अवधि ज्ञानी में सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गलों के निरीक्षण करने की क्षमता होती है।

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य क्षेत्र काल भाव की मर्यादा पूर्वक जो ज्ञान मूर्त पदार्थों को जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनः पर्यव ज्ञान।

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल

और भाव की मर्यादा पूर्वक जो ज्ञान संज्ञी जीवों के मन में रहे हुये भावों को जानता है उसे मनः पर्यव ज्ञान कहते हैं। मनः पर्यव ज्ञानी समनस्क जीवों के मनोगत विचारों को स्पष्ट रूप से जान सकता है। बाह्य साधनों की अपेक्षा के बिना ही मनोगत भावों को जान लेना मनः पर्यव ज्ञान है।

केवल ज्ञान।

सकल विश्ववर्त्ती मूर्त्त या अमूर्त्त, सूक्ष्म या स्थूल पदार्थों को तीनों ही काल में सम्पूर्ण रूप से जान लेना केवल ज्ञान है। समस्त द्रव्यों को समस्त पर्यायों सहित जान लेना केवल ज्ञान है।

अज्ञान।

अज्ञान तीन प्रकार के हैं—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभङ्ग अज्ञान (अवधि अज्ञान)। यहाँ अज्ञान शब्द में होनेवाले नञ् समास का अर्थ अभाव नहीं पर कुत्सा है।

प्र०—ज्ञान कुत्सित कैसे हो सकता है ?

उ०—ज्ञान निन्दित नहीं पर मिथ्यात्व के सहयोग से ज्ञान भी अज्ञान के समान है। नीच के सम्पर्क से उत्तम मनुष्य भी नीच कहलाता है।

ज्ञान और अज्ञान में सिर्फ पात्र का भेद है। पात्र के आधार पर ही ज्ञान के दो भेद किये गये हैं। यदि पात्र

सम्यक्त्वी हो, तो उसका ज्ञान ज्ञान कहलाता है। यदि पात्र मिथ्यात्वी हो तो उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है, किन्तु दोनों ही ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम हैं, इसलिये दोनों ही उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है। दोनों का ही गुण जानने का है। एक ऐसा भी अज्ञान है जो त्याज्य है, छोड़ने योग्य है, ऐसे अज्ञान का अर्थ है, न ज्ञान=अज्ञान अर्थात् ज्ञान का आवरण। यह ज्ञानावरणीय कर्म का उदय जन्य है एवं इससे ज्ञान का विकास रुकता है।

मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान एवं विभङ्ग अज्ञान का अर्थ पूर्वोक्त मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान एवं अवधि ज्ञान के समान ही समझना चाहिये। इनमें फर्क सिर्फ पात्र का है।

मनः पर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान ये दोनों विशिष्ट योगियों के सिवाय अन्य किसी को नहीं हो सकते और ये विशिष्ट योगी कदापि मिथ्यात्वी हो नहीं सकते अतः अज्ञान के भेद सिर्फ तीन ही हो सकते हैं, पांच नहीं।

दर्शन।

सामान्य बोध-अनाकार उपयोग—को दर्शन कहते हैं। किसी भी वस्तु को जानने के दो रास्ते हैं—एक रूप, अनेक रूप। जब एक रूप से हम वस्तु का ज्ञान करते हैं तब हमारा ज्ञान सामान्यग्राही होने के कारण सामान्य बोध अर्थात् दर्शन कहा जाता है। जब हम एक ही वस्तु को अनेक रूप से—भिन्न भिन्न रूप से

देखें. तब वही हमारा ज्ञान भिन्न रूप ग्राही होने के कारण विशेष बोध अर्थात् ज्ञान कहा जाता है। दर्शन के चार भेद किये गये हैं—चक्षु.दर्शन, अचक्षुःदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन।

चक्षुःदर्शन।

चक्षुःदर्शनावरणीय-कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु—आंखों द्वारा जो पदार्थों का सामान्य बोध होता है उसे चक्षुःदर्शन कहते हैं।

अचक्षुःदर्शन।

अचक्षुःदर्शनावरणीय-कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र इन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थों का सामान्य बोध होता है उसे अचक्षुः दर्शन कहते हैं।

अवधि दर्शन।

अवधि-दर्शनावरणीय-कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को जो रूपी द्रव्य का सामान्य बोध होता है उसे अवधि दर्शन कहते हैं। यह अवधि ज्ञान का सहवर्त्ती है।

केवल दर्शन।

केवल-दर्शनावरणीय-कर्म के क्षय होने पर आत्मा को जो संसार के सकल पदार्थों का सामान्य बोध होता है

उसे केवल दर्शन कहते हैं। यह केवल ज्ञान का सह-वर्त्ती है।

प्रश्न—चक्षुःदर्शन अचक्षुःदर्शन न कह कर सिर्फ इन्द्रिय दर्शन ही कह देते तो एक ही में पांचों इन्द्रियों का समावेश हो जाता। यदि यह अभिप्रेत नहीं था तो पांच इन्द्रियों के पांच भेद क्यों नहीं किये गये ?

उत्तर—इस स्थान पर वस्तु के सामान्य और विशेष इन दो स्वभावों को लेकर वस्तु तत्त्व का निरीक्षण किया गया है। चक्षुःदर्शन यद्यपि सामान्य बोध है तो भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विश्वस्त है। इसमें विशेषता की कुछ झलक आ जाती है उसी को ध्यान में रख कर चक्षु.दर्शन का स्थान अन्य इन्द्रियों से भिन्न वर्णित है।

प्रश्न—मनःपर्यव ज्ञान की भांति मनःपर्यव दर्शन क्यों नहीं ?

उत्तर—मनःपर्यव ज्ञान सिर्फ मनोगत भावनाओं का ही ज्ञान करता है अतः उसका विषय है—आलोचनात्मक ज्ञान, मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान। अतः यह सामान्य बोध अर्थात् मनःपर्यव दर्शन नहीं हो सकता।

प्रश्न—(१) चक्षुः अचक्षुः दर्शन, (२) इन्द्रिय ज्ञान, (३) इन्द्रिय पर्याप्ति और (४) इन्द्रिय प्राण में क्या अन्तर है ?

उत्तर—(१) ज्ञान दो प्रकार के होते हैं साकार और अनाकार। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय व क्षयोपशम से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह साकार है और जो

दर्शनावरणीय कर्म के क्षय व क्षयोपशम से मिलता है वह अनाकार है। पर्याय यानी अवस्था सहित जो द्रव्य का ज्ञान किया जाता है वह साकार है और जो पर्याय रहित द्रव्य का ज्ञान किया जाता है वह अनाकार है। स्पर्श आदि का विशेष बोध जिससे किया जाता है वह इन्द्रिय विशेष बोध है और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। जिस से स्पर्श आदि का सामान्य बोध किया जाता है वह चक्षुः अचक्षुः दर्शन है और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।

(२) इन्द्रिय ज्ञान बाह्य इन्द्रियों की सहायता से होता है।

(३) जन्म धारण के समय जिन पुद्गलों के द्वारा इन्द्रियों का आकार बनता है वह इन्द्रिय पर्याप्ति है और नाम कर्म का उदय है।

ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति में जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय का क्षय क्षयोपशम अपेक्षित है वैसे ही अन्तराय का क्षय क्षयोपशम भी अपेक्षित है।

(४) इन्द्रिय प्राण इन्द्रिय ज्ञान की शक्ति है और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

प्रश्न—(१) स्पर्शनेन्द्रिय, (२) काय बल, (३) शरीर और (४) काय योग में क्या अन्तर है ?

उत्तर—(१) स्पर्शनेन्द्रिय—स्पर्शनेन्द्रिय के दो भाग हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य-स्पर्शन-इन्द्रिय अङ्गुल का असंख्यातवां भाग है और नाम कर्म उदयजन्य है। भाव-स्पर्शन-इन्द्रिय स्पर्श को जानने की शक्ति और ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय का क्षयोपशम है।[1]

(२) काय बल यह शरीर को प्रवृत्त करनेवाली शक्ति है और अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

(३) शरीर—यह औदारिक वर्गणा व वैक्रिय वर्गणा निष्पन्न है और जितना दृश्यमान है उतने स्थान में है।[2]

(४) काय योग—यह हलन चलन की प्रवृत्ति है।

---

१ स्पर्शन इन्द्रिय समूचे शरीर में फैली हुई है। अंग्रेजो में इसे Sense of touch कहते हैं। इससे प्राणी को स्पर्श का अनुभव होता है। शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं जिसमें स्पर्शन इन्द्रिय वर्तमान न हो। शरीर या काय के बिना स्पर्शन इन्द्रिय टिक नहीं सकती फिर भी शरीर और स्पर्शन इन्द्रिय दो-भिन्न वस्तुयें हैं।

२ शरीर पुद्गलों से बना हुआ ढांचा होता है। इसके अन्दर आत्मा निवास करती है और इसीसे अपना कार्य भी कराती रहती है। शरीर जड है।

बोल दशवाँ

कर्म आठ—

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नाम कम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एव मे याइ कम्माइं, अट्ठव उ समास ओ ॥

—उत्तराध्ययन अ० ३३—

ज्ञानस्यवरणीयं, दर्शनावरणं तथा
वेदनीयं तथा-मोहम्, आयुः कर्म तथैवच ॥
नाम कर्म च गोत्रं च, अन्तरायं तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टैव तु समासतः ॥

(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुः, (६) नाम, (७) गोत्र, और (८) अन्तराय—ये आठ कर्म हैं ।

आत्मा की शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट किये हुये पुद्गल चार प्रकार से (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश) आत्मा के साथ सम्बन्ध करके जो शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं शुभाशुभ रूप से उदय में आते हैं, उन आत्म-गृहीत पुद्गलों का नाम है

—कर्म। ये कर्म-पुद्गल आत्म-गुणों को दबाते रहते हैं। यद्यपि ये पुद्गल एक रूप है तो भी वे जिस आत्म गुण को आच्छादित करते हैं उसके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है।

आत्मा के आठ प्रधान गुण हैं यथा—केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्त्तिकपन, अगुरुलघुपन, लब्धि। प्रथम गुण को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—ज्ञानावरणीय कर्म। संसार मे जितनी आत्मायें हैं उन सब में अनन्त ज्ञान विद्यमान है, परन्तु जबतक इस ज्ञानावरणीय कर्म का नाश नहीं होता तबतक वह ज्ञान इस कर्म से आवृत्त रहता है। आत्मा के द्वितीय गुण का नाम है—केवल दर्शन। यह भी ज्ञान की भांति सब आत्माओं में विद्यमान है। इस द्वितीय गुण को रोकनेवाले, आच्छादित करनेवाले ढकने वाले कर्म-पुद्गलों का नाम है—दर्शनावरणीय कर्म। इस कर्म के नाश होने से ही केवल दर्शन की प्राप्ति होती है। आत्मा के तृतीय गुण आत्मिक सुख को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है -वेदनीय कर्म। आत्मा के चतुर्थ गुण सम्यक् श्रद्धा को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—मोहनीय कर्म। पंचम गुण—अटल अवगाहन-शाश्वत स्थिरता—को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—आयुष्य कर्म। आत्मा के छठे गुण अमूर्त्तिकपन को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—नाम कर्म। नाम कर्म के उदय से ही शरीर मिलता है एवं शरीर समाविष्ट अमूर्त्त आत्मा भी मूर्त्त सी प्रतीत होने लगती है। आत्मा के सप्तम गुण अगुरुलघुपन न छोटापन न

बड़ापन—को रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है—गोत्र कर्म। आत्मा का आठवाँ गुण है—लब्धि और लब्धि प्राप्ति को रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है—अन्तराय कर्म।

जीव या आत्मा ज्ञानमय चेतनामय अरूपी पदार्थ है, इसके साथ लगे हुये सूक्ष्म मलावरण को कर्म कहते हैं। कर्म पुद्गल है, जड है। कर्म के परमाणुओं को कर्म-दल या दलिया कहते हैं। आत्मा पर रही हुई राग द्वेष रूपी चिकनाहट और योग रूपी चञ्चलता के कारण कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। कर्म-दल आत्मा के साथ अनादि काल से चिपके हुए हैं, इनमें कई अलग होते हैं तो कई नये चिपक जाते हैं। इस प्रकार यह क्रिया बराबर चालू रहती है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण आत्मा कर्म वर्गणा ग्रहण करती हैं और यही कर्म है। कर्म वर्गणा एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज है, पुद्गल स्कन्ध है जिसे सिर्फ सर्वज्ञ या अवधि ज्ञानी ही जान सकते हैं। जो पुद्गल कर्म-वर्गणा का कार्य करते हैं वे चौ-स्पर्शी होते हैं, अष्ट स्पर्शी नहीं।

विश्व के समस्त पुद्गलों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है यथा :—

(१) अष्ट-स्पर्शी—वे पुद्गल जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, के साथ हलकापन, भारीपन आदि आठों स्पर्श पाये जायं।

(२) चतुः-स्पर्शी—वे पुद्गल जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, तथा शीत उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये चार स्पर्श पाये जायं।

आत्मा के साथ चिपकने वाले कर्म-पुद्गलों को जैन शास्त्रकारों ने दो भागों में बांट दिया है—घाति कर्म और अघाति कर्म।

घाति कर्म—जो कर्म-पुद्गल आत्मा से चिपक कर आत्मा के मुख्य, प्रधान, स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं, उनका हनन करते हैं—उनको घाति-कर्म कहते हैं। इन कर्मों का मूलोच्छेद होने से ही आत्मा ,सर्वज्ञ या सर्व-दर्शी वन सकती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति-कर्म कहलाते हैं।

अघाति कर्म—जो कर्म आत्मा के मुख्य, प्रधान गुणों की घात नहीं करते, उनको हानि नहीं पहुंचाते वे अघाति-कर्म कहलाते हैं। घाति-कर्मों के अभाव में ये कर्म पनपते नहीं, उसी जन्म मे शेष हो जाते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार अघाति-कर्म हैं। अतः कर्म के आठ भेद हुये जैसे—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म।

यदि किसी मनुष्य की आँखों पर पट्टी वाँध दी जाय, तो वह किसी भी पदार्थ को नहीं देख सकता। इसी प्रकार जवतक आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म रूपी

पट्टी से आच्छादित रहे तबतक आत्मा का मूलगुण-ज्ञान ढका रहता है, वह (ज्ञान) प्रकट हो नहीं सकता ।

(२) दर्शनावरणीय कर्म ।

इस कर्म को दरवान की उपमा दी गयी है जैसे राजा के साथ मुलाकात करने में दरवान विघ्न कर्त्ता होता है वैसे ही यह कर्म वस्तुओं के देखने में बाधा देता है ।

(३) मोहनीय कर्म ।

यह कर्म मदिरा-शराब के समान है । मदिरा पीया हुआ मनुष्य अंट संट बकता है उसे अपनी सुध बुध नहीं रहती उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव कर्तव्याकर्तव्य को समझ नहीं पाता । कौन काम करने योग्य है, कौन काम करने योग्य नहीं है—इसका उसे ज्ञान नहीं रहता ।

(४) अन्तराय कर्म ।

यह कर्म राजा के भण्डारी के समान है । राजा की इच्छा दान देने की होते हुये भी भण्डारी कुछ न कुछ बहाना निकाल कर दान नहीं देने देता वैसे ही यह कर्म शुभ कार्यों में विघ्न रूप होता है ।

(५) वेदनीय कर्म ।

मनुष्य सुख दुःख का जो अनुभव करता है वह

इसी का प्रताप है साता-वेदनीय-कर्म से सुख और असाता-वेदनीय-कर्म से दुःख होता है।

(६) आयुष्य कर्म।

जीवन-प्राण को टिका रखने वाला कर्म आयुष्य-कर्म है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी का आयुष्य प्राप्त होना इस कर्म का ही फल है।

(७) नाम कर्म।

अच्छी गति, सुन्दर शरीर आदि शुभ-नाम-कर्म से तथा नीच गति कुरूप शरीर आदि अशुभ-नाम कर्म से प्राप्त होते हैं।

(८) गोत्र कर्म।

शुभ-गोत्र-कर्म से ऊंच गोत्र तथा अशुभ-गोत्र-कर्म से नीच गोत्र मिलता है।

कर्मों की मुख्य अवस्थायें दश हैं यथा—

(१) बंध (२) उद्वर्तन (३) अपवर्तन (४) सत्ता (५) उदय (६) उदीरणा (७) संक्रमण (८) उपशमन (९) निधत्ति (१०) निकाचना।

(१) बंध।

जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जीव के असंख्यात प्रदेशों में हलचल, कम्पन Vibration

पैदा होती है। इस हलचल या कम्पन के फल स्वरूप, जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश है, उस क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल जीव के एक एक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं। बंध जाते हैं। जीव प्रदेशों के साथ इन कर्म-पुद्गलों का इस प्रकार बंध जाना, चिपक जाना ही बन्ध कहलाता है। जीव और कर्म का यह मेल यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा दूध और पानी का अग्नि और तप्त लोह पिंड का। इस प्रकार आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त कार्मण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। बन्ध के चार भेद किये गये हैं—

(क) प्रकृति बन्ध।

यों तो कर्म योग्य पुद्गल सब एक ही स्वभाव-प्रकृति के होते हैं परन्तु जिस वक्त जीव इनको ग्रहण करता है तब इनका स्वभाव, जीव की उस वक्त की शुभाशुभ कार्य करने की प्रवृत्ति के अनुरूप ही बन जाता है। जीव की शुभ प्रवृत्ति के समय ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गल शुभ, तथा अशुभ प्रवृत्ति के समय ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गल अशुभ होते हैं। कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर, ज्ञान को रोकने का स्वभाव, दर्शन को रोकने का स्वभाव—इस प्रकार

के जुदे-जुदे स्वभाव का होना ही प्रकृति बन्ध कहलाता है।

(ख) स्थिति बन्ध।

जीव के द्वारा जो शुभाशुभ कर्म पुद्गल ग्रहण किये गये हैं वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को कायम रखते हुए जीव प्रदेशों के साथ बंधे रहेंगे, उसके बाद वे शुभ या अशुभ रूप में उदय में आवेंगे—इस प्रकार से कर्मों का निश्चित काल तक के लिए जीव के साथ बंध जाना—स्थिति बंध है।

(ग) अनुभाग बन्ध-रस बन्ध।

कितने कर्म तीव्र या कडुवे रस से बंधते हैं और कितने मन्द या मीठे रस से। शुभाशुभ काम करते समय जो जीव की जितनी मात्रा में तीव्र या मन्द प्रवृत्ति रहती है उसी के अनुरूप कर्म भी बंधते हैं और उनमें फल देने की भी वैसी ही शक्ति होती है।

(घ) प्रदेश बन्ध।

भिन्न-भिन्न कर्म दलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश बन्ध है। ग्रहण किये जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल-राशि स्वभावानुसार अमुक-

अमुक परिमाण में बंट जाती है—यह परिमाण विभाग ही प्रदेश बन्ध कहलाता है।

जीव संख्यात, असंख्यात परमाणुओं से बने हुये कर्म-पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता परन्तु अनन्त परमाणु वाले स्कन्ध का ग्रहण करता है।

(२) उद्वर्तन।

स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध के बढ़ने को उद्वर्तना कहते है।

(३) अपवर्तन।

स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध के घटने को अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना और अपवर्तना के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई देर में, किसी का फल तीव्र होता है और किसी का मन्दा।

(४) सत्ता।

बंधने के बाद कर्म का फल तुरन्त नहीं मिलता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है। कर्म जबतक फल न देकर अस्तित्व रूप में रहता है तबतक उसे सत्ता या अबाधा काल कहते हैं।

(५) उदय।

स्थिति बन्ध पूर्ण होने पर जब कर्म शुभ या अशुभ रूप में भोगे जाते हैं तब उसे उदय कहते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—फलोदय एवं

प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है उसे फलोदय या विपाकोदय कहते हैं और जो कर्म उदय में आकर भी विना फल दिये नष्ट हो जाता है, सिर्फ आत्म-प्रदेशों में भोगा जाता है उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

(६) उदीरणा।

अवाधा काल व्यतीत हो चुकने पर, जो कर्म दलिक पीछे से उदय में आने वाले हैं, उनको प्रयत्न विशेष से खींचकर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। उदीरणा के लिए अपवर्तना के द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है।

(७) संक्रमण।

जिस प्रयत्न विशेष से कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त हो उसे संक्रमण कहते हैं। एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति रूप वन जाना संक्रमण है। क्रोध का मान के रूप में और मान का क्रोध के रूप में बदल जाना संक्रमण है।

(८) उपशम।

मोह कर्म की सर्वथा अनुदयावस्था को उपशम कहते हैं। जिस समय मोहनीय कर्म का प्रदेशोदय

और विपाकोदय नहीं रहता है उस अवस्था को उपशम कहते हैं।

(९) निधत्ति।

जिसमें उद्वर्तन अपवर्तन के सिवाय कोई संक्रमण आदि नहीं हो सकते उसे निधत्ति कहते हैं।

(१०) निकाचना।

जिन कर्मों का फल निश्चित स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है, जिनके विपाक को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता वे निकाचित कर्म कहलाते हैं। इनका आत्मा के साथ खूब ही गाढ़ा सम्बन्ध होता है। इनके उद्वर्तन, अपवर्तन उदीरणा आदि नहीं होते।

जैन सिद्धान्त में कर्मवाद का वही स्थान है जो व्याकरण में कारक का है। संसारी प्राणियों की विविधता का कारण कर्म ही है। कोई विद्वान है, कोई मूर्ख है, कोई अशक्त है, कोई विरक्त है, किसी का जन्म होता है, किसी की मृत्यु होती है, किसी का संयोग किसी का वियोग, किसी का सत्कार किसी का तिरस्कार। विद्वान धनहीन है और मूर्ख धनी है। कोई लेखक है, कवि नहीं। कोई कवि है, वक्ता नहीं। कोई लेखक है, कवि भी है, वक्ता भी है। कोई योग्यता न रहते हुये भी स्वामी है और योग्यता वाला सेवक है—इत्यादि अगणित विविधताओं

को देखते हुये यह कहना ही पड़ता है कि प्राणी की प्रत्येक दशा पर कर्म का अक्षुण्ण प्रभाव है।

प्रश्न—आत्मा अमूर्त्त (अरूपी) है और कर्म मूर्त्त (रूपी) है फिर इन दो विरोधी चीजों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर—अमूर्त्त आत्मा के साथ मूर्त्त कर्म का बन्ध नहीं हो सकता यह असम्भव है परन्तु संसारी आत्मा के एक एक आत्म-प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुए हैं अतः आत्मा अमूर्त्त होती हुयी भी कार्मण शरीर के सम्बन्ध से मूर्त्तवत् है और वह कार्मण शरीर प्रवाह रूप से अनादि सम्बन्ध वाला है। उस कार्मण शरीर की विद्यमानता में ही आत्मा के कर्म परमाणु चिपकते हैं। जब कार्मण शरीर का नाश हो जाता है तब आत्मा अमूर्त्त हो जाती है और ऐसी आत्मा को कर्म भी नहीं पकड़ सकते। तात्पर्य यह है कि जबतक आत्मा में कर्म बन्ध का कारण विद्यमान रहता है तबतक कार्मण शरीर के द्वारा कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यद्यपि मुक्त आत्मायें भी पुद्गल व्याप्त आकाश में स्थित है किन्तु उन आत्माओं में कर्म बन्ध के कारणों का अत्यन्ताभाव है, इसलिये पुद्गल वहाँ रहते हुये भी उन मुक्त

आत्माओं से सम्बन्ध नहीं कर सकते और बिना सम्बन्ध के वे आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते।

जो पुद्गल आत्म-प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते, यों ही स्वभावतः लोक में फैले हुये हैं, उन में फलदान की शक्ति नहीं होती। संसारी आत्माओं में कर्म बन्ध का कारण मौजूद है अतः कर्म पुद्गल आत्मा के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तथा उन पुद्गलों का आत्मा के साथ एकीभाव होने से उन में फल देने की शक्ति आ जाती है और वे यथा समय अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। अतः आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का मुख्य हेतु आत्मा की तदनुकूल प्रवृत्ति ही है।

आत्मा के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध प्रवाह रूप से है, व्यक्ति रूप से नहीं, क्योंकि कर्म सब अवधि सहित होते हैं। कर्म पुद्गलों में कोई एक भी ऐसा नहीं जो कि अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ हो। सब से उत्कृष्ट स्थिति मोहनीय कर्म की है वह भी उत्कृष्ट रूप से ७० क्रोड़ा क्रोड़ सागर तक आत्मा के साथ सम्बन्धित रह सकता है, उससे अधिक नहीं। इसलिये आत्मा की मुक्ति होने में कोई भी आपत्ति नहीं।

कर्म बन्ध सहेतुक है। जबतक कर्म बन्ध का कारण विद्यमान रहता है तबतक वह बंधता जाता है और अपना फल देने की अवधि पूर्ण होने से अलग हो जाता

है और जब आत्मा कर्म बन्ध का द्वार रोक देती है अर्थात् कर्म बन्ध के कारण आश्रव का नाश कर देती है उस वक्त कर्म का बन्ध रुक जाता है और जो कर्म पहले के बंधे हुये हैं वे उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं या उदीरणा से उदय मे लाकर नष्ट कर दिये जाते हैं। आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न—कर्म जड हैं, वे यथोचित फल कैसे दे सकते हैं ?

उत्तर— यह ठीक है कि कर्म-पुद्गल यह नहीं जानते कि अमुक आत्मा ने यह काम किया है, अतः उसे यह फल दिया जाय परन्तु आत्म-क्रिया के द्वारा जो शुभाशुभ पुद्गल आकृष्ट होते हैं उनके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्मा को उसके अनुसार फल मिल जाता है। शराब को नशा करने की ताक़त का कब अनुभव होता है और विप ने मारने की बात कब सीखी ? फिर भी शराब पीने से नशा होता है और विप खाने से मृत्यु। पथ्य भोजन आरोग्यता देना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती, फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य लाभ होता है और औषधि सेवन से रोग मिटता है। बाह्य रूप से ग्रहण किये हुये पुद्गलों का जब इतना असर होता है तो आन्तरिक प्रवृत्ति से गृहीत कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर असर होने में सन्देह कैसा ? उचित साधनों के सहयोग से विष

और औषधि की शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है वैसे ही तपस्या आदि साधनों से कर्म की फल देने की शक्ति में भी परिवर्तन किया जा सकता है। अधिक स्थिति के एवं तीव्र फल देने वाले कर्म में भी उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति में अपवर्तना के द्वारा न्यूनता की जा सकती है।

प्रश्न—प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है, दुःख नहीं तो फिर वह पाप का फल स्वयं क्यों भोगेगी ?

उत्तर—इस पर इतना ही कहना काफी होगा कि सुख और दुःख आत्मा के पुण्य पाप के अनुसार मिलते हैं या चाहने के अनुसार ? यदि चाहने के अनुसार मिले तब तो कर्म कोई चीज ही नहीं। बस जो कुछ इच्छा को वही मिल गया। ऐसी हालत में तो बस इच्छा ही सार है चाहे उसे चिन्तामणि कहें चाहे कल्प-वृक्ष। यदि कर्म कोई वस्तु है तब तो उसके अनुसार ही फल मिलेगा। अच्छे कर्म का अच्छा फल होगा बुरे का बुरा। "बुद्धि कर्मानुसारिणी"—इस छोटे से वाक्य से यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसा कर्म होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, जैसी बुद्धि होती है वैसा ही काम किया जाता है और जैसा काम किया जाता है वैसा ही फल मिलता है। अतएव कर्म का फल भोगने में किसी न्यायाधीश की जरूरत नहीं।

एक मनुष्य अपने पूर्व कृत कर्मों के बल पर हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार दुराचार सेवन करता है। न्यायाधीश का क्या काम बिगड़ता था कि उसे कर्म का फल देने को इन निन्दनीय कार्यों में प्रवृत्त करना पड़ा? न्यायाधीश तो बुरी आदतों को छुड़ाने के लिये कर्म का फल देता है तो फिर हिंसा चोरी आदि से कर्म फल भुगताने का तरीका क्यों पसन्द किया गया उस परम दयालु न्यायाधीश-ईश्वर के द्वारा?

जैन दर्शन के अनुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है। इस सृष्टि का न तो कभी आरम्भ ही हुआ और न कभी अन्त ही होगा। इस सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है। अन्य दर्शनों के अनुसार संसार-सृष्टि एक कार्य है इस लिये इस का कर्त्ता भी अवश्य है और उसी का नाम ईश्वर है। इस दलील को मान लेने से कई नये प्रश्न उठ खड़े होते हैं जैसे —

यदि प्रत्येक कार्य का संचालक ईश्वर हो तो जीवों को सुख दुःख देने में ईश्वर के ऊपर पक्षपाती होने का दोष आता है। जो जीव सुखी है उन पर ईश्वर का प्रेम है और जो दुखी हैं उन पर ईश्वर का द्वेष है। ऐसे ईश्वर

की आत्मा राग-द्वेष से मलिन है अतः हम ऐसे ईश्वर को परमात्मा कैसे माने?

यदि सृष्टि उत्पन्न करनेवाली किसी शक्ति विशेष को मानें तो उसका कर्त्ता अथवा स्वामी भी किसी को मानना पड़ेगा और फिर उसका स्वामी, इस तरह एक के बाद एक ऐसे स्वामियों की कतार सी लग जावेगी जो अनन्त तक To infinity चली जावेगी फिर भी स्वामी का अन्त नहीं दीखेगा। ईश्वर को कर्त्ता मान लेने से पुरुषार्थ के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। जैसी कर्त्ता के जंची वैसी सृष्टि कर डाली। जैन दर्शन के अनुसार तो आत्मा ही अपने कर्मों की कर्त्री है और वही सुख दुःख की भोक्त्री है। परमात्मा राग द्वेष रहित है उसको संसार से मतलब ही क्या?

प्रश्न—परिस्थिति के अनुसार एक साथ लाखों आदमी मर जाते हैं। जो धर्मिष्ट हैं वे दुखी देखे जाते हैं जो पापी हैं वे आनन्द करते हैं। अतः इन सब का कारण परिस्थिति ही है, कर्म क्यों?

उत्तर—युद्ध में जो एक साथ लाखों मनुष्य मरते हैं इसका कारण आयुष्य कर्म की उदीरणा है। उदीरणा का अर्थ है नियत काल से उदय में आने वाले कर्म को किसी कारण विशेष से अनियत काल में उदय में ला कर भोग लेना। जो जो आकस्मिक घटनायें घटती हैं

उनमें उदीरणा का मुख्य हाथ है। परिस्थिति एक प्रकार से कर्म का फल है। जिसके जैसे कर्म किये हुये होते हैं उस को वैसी ही अवस्था से अपना जीवन बिताना पड़ता है। परिस्थिति का जो परिवर्तन होता है उसका कारण तो कर्म ही है। एक राजघराने में जन्मता है और आखिर धूल फांकता हुआ मरता है। एक गरीब घर में जन्मता है और आखिर सारे विश्व पर शासन करता है। किसी के जीवन का पूर्वार्द्ध सुखमय है और किसी के जीवन का उत्तरार्द्ध। कोई धनी से धनी देश में भी गरीब है और कोई गरीब देश में धन कुबेर। धन है पर शरीर स्वस्थ नहीं। शरीर स्वस्थ है पर धन नहीं। इन सब परिस्थितियों का परिवर्तन कर्म से ही होता है। इस लिये कर्म ही मुख्य है। कर्म ही परिस्थिति को बदलने वाला है। कर्म का प्रभाव अचूक है। यदि पूर्व भव में बुरे कर्म बंधे हैं और वे नियत हैं, तो वर्तमान में धर्म परायण होने पर भी अपना फल देंगे और यदि अच्छे कर्म बन्धे हुए हैं और नियत है, तो वर्तमान में पापी होने पर भी अपना शुभ फल देंगे ही। इस प्रसङ्ग में एक बात और जानने की है—कर्म पर भरोसा रख कर उद्योग को भूल जाने वाली बात जैन दर्शन ने कभी भी नहीं सिखायी। जैन दृष्टि से जैसा कर्म है वैसा ही उद्योग।

कर्म की मुख्यता नहीं, उद्योग का विरोध नहीं, किन्तु दोनों का समन्वय है। आत्म विकास के लिये इसमें विशाल क्षेत्र है।

जैन कर्मवाद सिद्धान्त जीवन में आशा, उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है एवं उन्नति पथ पर आगे बढ़ने में अनुपम उत्साह प्रदान करता है। कर्मवाद पर पूर्ण विश्वास होने के बाद निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह ही नहीं सकता। सुख दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते।

कर्म ही आत्मा को जन्म मरण के चक्र में घुमाता है। हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्वकृत् कर्मों का फल है। मनुष्य जो कुछ पाता है वह उसी की बोयी हुई खेती का फल है।

We create our own destiny by our thoughts and desires. What we are today, are the results of our past existence. God is not responsible for our conditions. We our selves are responsible and if we understand this secret or this mystery of the soul, then we can mould our future in such a manner that we will never go down but rise higher and higher until we have reached the goal of our existence.

—*Swami Abhedanand*

सारांश—हम अपने विचारों और वासनाओं के अनुरूप अपना भाग्य निर्माण करते हैं। आज हम जो कुछ हैं वह हमारे ही पूर्व जन्मों का फल है। हमारी वर्तमान अवस्था के लिये ईश्वर

जिम्मेवार नहीं। हम स्वयं अपनी इस अवस्था के लिये जिम्मेवार हैं—यदि इस तथ्य को, आत्मा के इस गुप्त भेद को—हम अच्छी तरह समझ लें तो हम अपने भविष्य का ऐसा सुन्दर निर्माण कर सकते हैं कि हमारा पतन तो रुक जावेगा और हम क्रमशः ऊंचे ऊंचे उठते जायेंगे जबतक कि जीवन के लक्ष्य को न प्राप्त करलें।

जैन कर्मवाद हमें सिखाता है कि आत्मा किसी रहस्यमय शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के आधीन नहीं एवं उसे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये उस शक्तिशाली व्यक्ति (ईश्वर) का दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं। आत्म-उत्थान के लिये या पापों का नाश करने के लिये हमें किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की जरूरत है और न उसके सामने रोने, गिड़गिड़ाने या मस्तक झुकाने की। कर्मवाद हमें बताता है कि संसार की सभी आत्माये एक समान हैं, सभी में एक-सी शक्तियाँ विद्यमान हैं। चेतन जगत् में जो भेदभाव दिखायी पड़ता है वह इन आत्मिक शक्तियों के न्यूनाधिक विकास के कारण। कर्मवाद के अनुसार विकास की सर्वोच्च सीमा को प्राप्त व्यक्ति ही ईश्वर है, परमात्मा है। हमारी शक्तियाँ कर्मों से आवृत है, अविकसित है परन्तु आत्म बल के द्वारा कर्म का आवरण दूर हो सकता है और इन शक्तियों का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर हम परमात्म-स्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न विशेष से परमात्मा बन सकती है।

जैन दर्शन में किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिये कर्म और उद्योग ये दो ही नहीं परन्तु पांच कारण माने गये हैं जैसे—काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति।

(१) काल—

भाग्य पुरुषार्थ व स्वभाव कोई काल के बिना कार्य नहीं कर सकता। शुभाशुभ कर्मों का फल तुरन्त ही नहीं मिल जाता परन्तु कालान्तर में नियत समय पर ही मिलता है। एक नवजात शिशु को बोलना या चलना सिखाने के लिये चाहे कितना ही उद्योग व प्रयत्न किया जाय, वह जन्मते ही बोलना या चलना नहीं सीख सकता। वह काल या समय पाकर ही सीखेगा। दवा पीते ही रोग आराम नहीं होता टाइम लगेगा। आम की गुठली में महावृक्ष के रूप में परिणत होने का तथा हजारों आम उत्पन्न करने का स्वभाव है परन्तु फिर भी उसे बोने के साथ ही फल नहीं मिलता। समय लगता है। स्त्री में बच्चा पैदा करने का स्वभाव रहने पर भी नौ मास तक गर्भ धारण करने से ही बच्चा पैदा होगा, उसके पहले नहीं।

प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाला, स्थिर करने वाला, संहार करने वाला, संयोग में वियोग और वियोग में संयोग करनेवाला महाशय—काल ही है।

काल की मर्यादा, स्वभाव पुरुपार्थ आदि से कम वेसी की जा सकती है परन्तु काल को सर्वथा उखाड़ कर फेंकने से काम नहीं चल सकता। काल मनुष्य को धीरज रखने का पाठ सिखाता है। मानव प्रथम क्षण में की हुई क्रिया का फल दूसरे ही क्षण में प्राप्त करने की आशा रखता है। फल दूसरे क्षण में मिलता नहीं, अतः मानव अधीर हो कर यह समझ बैठेगा कि क्रिया निष्फल है, फल तो मिला नहीं। ऐसा समझ वह कार्य करने से रुक जाय और फल से वञ्चित रहे। कालान्तर में फल अवश्य मिलेगा अतः कार्य करते रहना चाहिये। ऐसा सोच मनुष्य धीरज रखता हुआ पुरुपार्थ में तत्पर रहेगा।

इस स्थान पर काल शब्द का अर्थ है - क्रिया सिद्धि काल, वस्तु परिपाक काल, कर्म-स्थिति रूप काल।

(२) स्वभाव।

आम की गुठली में अंकुरित होकर, आम वृक्ष बनने का स्वभाव है, अतः माली का पुरुपार्थ काम आता है, मालिक का भाग्य फल देता है और काल के वल से अंकुर आदि वनते हैं। काल, पुरुपार्थ और प्रारब्ध सभी मिलकर भी यदि चेष्टा करें तो निवोली से आम पैदा नहीं कर सकते। कोई भी ताकत अग्नि को शीतल नहीं कर सकती। पुरुष के बच्चा नहीं हो सकता

हरेक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव है। कोई ताकत उस स्वभाव को बदल नहीं सकती।

(३) कर्म।

एक ही मा के दो बच्चे हैं एक सुन्दर एवं बुद्धिमान दूसरा कुरूप एवं मूर्ख। ऐसा क्यों? काल पुरुषार्थ स्वभाव दोनों में समान थे, फिर फर्क क्यों? एक ही माँ-बाप का रज और वीर्य, एक ही गर्भ से उत्पन्न, एक ही वातावरण, फिर फर्क कैसा? यह सब कर्म का प्रभाव है। जिस जीव ने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किये उसको अच्छे संयोग प्राप्त हुए और जिसने बुरे कर्म किये उसको प्रतिकूल संयोग मिले।

(४) पुरुषार्थ—उद्योग।

संसार में परिभ्रमण कराने वाला तो कर्म है परन्तु मुक्त कराने में कर्म की सामर्थ्य नहीं। मुक्ति प्राप्त करने में तो सिर्फ पुरुषार्थ की ही सत्ता चलती है। पूर्व जन्म के अच्छे उद्योग और शुभ कर्मों का बन्ध होने पर भी वर्तमान के उद्योग बिना पूर्व संचित शुभ कर्म भी इष्ट फल न दे सकेंगे। उसके लिये उद्योग जरूरी है। आटा, पानी, आग सब तैयार है परन्तु भाग्य भरोसे बैठे रहने से भोजन नहीं बनेगा। परोसी हुई रोटी बिना हाथ चलाये मुंह में न जा

सकेगी। वर्तमान के उद्यम विना कोई काम नहीं हो सकता।

(५) नियति—निकाचित कर्म।

उदयाति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां।
प्रचलाति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः॥
विकसाति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां।
तदपि न चलती यं भाविनी कर्म रेखा॥

चाहे सूर्य पश्चिम में उदय हो जाय, मेरु पर्वत चलायमान हो जाय अग्नि शीतल हो जाय, पर्वत पर पद्म उग जावे परन्तु भावी—होनहार की जो कर्म रेखा है वह कभी टल नहीं सकती। मनुष्य अनाज की फसल आवाद करने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न करे परन्तु यदि नियति विपरीत हो, तो कोई न कोई विघ्न पैदा होकर फसल नष्ट हो ही जायगी। पाला है, टिड्डी है, वर्षा का अभाव है, वहु-वर्षा है, महामारी है, रोग है।

नियति को घड़ने वाला तो पुरुषार्थ ही है परन्तु घड़ने के वाद नियति पूर्ण स्वतन्त्र है। फिर पुरुषार्थ का नियति पर रत्ती भर भी जोर नहीं चल सकता।

नियति निकाचित वंध वाले कर्मों का समूह रूप है। जो कर्म अवश्य भोगना पड़े, जिसकी स्थिति में

अथवा विपाक में कुछ भी परिवर्तन न हो सके उस कर्म के बंध को निकाचित बंध कहते हैं। जिस कार्य का फल तदनुकूल पुरुषार्थ से विपरीत दिशा में गमन करे उसको नियति का कार्य मानना चाहिये। पुरुषार्थ सिर्फ नियति के सामने निष्फल होता है।

किसी भी कार्य का फल प्राप्त करने के लिये इन पांच कारणों की मुख्यतया या गौणतया आवश्यकता पड़ती है उदाहरणार्थ—

लक्ष्मीचन्द मेट्रिक परीक्षा पास करना चाहता है।

काल—उसे पास करने में ६-७ साल अवश्य ही लगेंगे।

स्वभाव—मन की स्थिरता, पढ़ने की रुचि एवं शिक्षण योग्य स्वभाव—इनकी अनुकूलता रहने से ही वह छव साल में पास हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

कर्म—तीक्ष्ण बुद्धि एवं स्वस्थ शरीर की जरूरत होगी और ये पूर्व कर्मों के क्षयोपशम या उदय अनुसार मिलते हैं।

पुरुषार्थ—मेहनत करनी होगी, स्कूल जाना, पाठ याद करना होगा।

नियति—उपरोक्त चारों का शुभ संयोग प्राप्त है परन्तु फिर भी बीच बीच में विघ्न आ पड़ते हैं—बीमार हो जाय। शायद डाक्टर ठीक कर दे और वह पास हो जावे। कभी-कभी ऐसे भी विघ्न आ सकते हैं कि लाख चेष्टा करने पर भी वे दूर नहीं हो सकते और लक्ष्मीचन्द फेल कर जाता है, यह नियति का ही काम है।

हमारा जीवन विघ्न, बाधा, दुःख और विपत्तियों से भरा हुआ है। इनके आने पर हम घबड़ा जाते हैं। हमारा मन चञ्चल हो जाता है। बाहरी निमित्त कारणों को हम दुःख का प्रधान कारण समझ बैठते हैं। अतएव निमित्त कारणों को हम भला बुरा कहते हैं और कोसते हैं। ऐसी जटिल परिस्थिति में कर्मवाद सिद्धान्त ही हमें ठीक रास्ते पर ला सकता है वह कहता है—आत्मा अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। सुख दुःख उसी के किये हुए कर्मों का फल है। कोई भी बाहरी शक्ति आत्मा को सुख दुःख नहीं दे सकती। वह तो सिर्फ निमित्त मात्र बन सकती है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर आत्मा दुःख और विपत्ति के समय घबराती नहीं। वह दृढ़ता के साथ उन विपत्तियों का धैर्य पूर्वक सामना करतीं है। अपने दुःख के लिए वह निमित्त कारणों को दोष नहीं देती। इस प्रकार कर्मवाद हमें निराशा से बचाता है, दुःख सहने की शक्ति देता है। मन को शान्त एवं स्थिर रखकर प्रतिकूल परिस्थित्तियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है।

बोल इग्यारवाँ

गुण-स्थान चौदह—

कम्म विसोहिय मग्गणं, पडुच्च, चोद्दस जीव ठाणा पण्णत्ता तंजहा मिच्छदिट्ठी, सासायण सम्मदिट्ठी,

सम्मामिच्छदिट्ठी, अविरयसम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्त संजए, अप्पमत्त संजए, नियट्टि अनिट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसमएवा खवएवा, उवसंतमोहेवा, खीणमोहे, सजोगी केवली, अजोगी केवली।

—समवायांग स० १४—

गुण-स्थान यानी गुणों के आत्म उज्ज्वलताओं के स्थान चौदह माने गये हैं यथा :—

(१) मिथ्या दृष्टि, (२) सास्वादन सम्यग् दृष्टि, (३) मिश्र, (४) अविरत सम्यग् दृष्टि, (५) देश विरति (६) प्रमत्त संयत, (७) अप्रमत्त संयत, (८) निवृत्ति बादर, (६) अनिवृत्ति बादर, (१०) सूक्ष्म संपराय, (११) उपशान्त मोह (१२) क्षीण मोह (१३) सयोगी केवली, (१४) अयोगी केवली।

संसार के दृढ़ बन्धनों से लेकर सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने तक की अवस्था तक पहुंचने की समस्त भूमिकाओं—Stages को जैन दर्शन में चौदह भागों में बाँट दिया गया है, जिनको गुण-स्थान कहते हैं। ये भूमिकायें कोई खास स्थान नहीं हैं परन्तु आत्मा की स्थिति विशेष है। आत्मा की निर्मलता से ये स्थान क्रमशः ऊँचे होते हैं और मलिनता से नीचे।

(१) मिथ्या दृष्टि गुणस्थान।

मिथ्या दृष्टि अर्थात् तत्त्व श्रद्धान से विपरीत है जिसकी दृष्टि वह है मिथ्या दृष्टि, उसका गुणस्थान है—मिथ्या दृष्टि गुणस्थान।

मिथ्यात्वी की क्षायोपशमिक दृष्टि का भी नाम है मिथ्या दृष्टि, उसका गुणस्थान भी मिथ्या दृष्टि गुण-स्थान है।

ये दोनों मिथ्या दृष्टि गुणस्थान की परिभाषायें हैं। पहली परिभाषा में गुणी (व्यक्ति) को लक्ष्य कर, उसमें पाये जाने वाले गुण को गुणस्थान कहा है और दूसरी में व्यक्ति को गौण मानकर केवल क्षायो-पशमिक दृष्टि को ही गुणस्थान कहा है। इन दोनों का अर्थ एक है, निरूपण के प्रकार दो हैं—पहली के अनुसार विपरीत दृष्टि वाले पुरुष में जो क्षायोपशमिक गुण है वह गुणस्थान है और दूसरी के अनुसार दृष्टि श्रद्धा क्षायोपशमिक गुण है, वह मिथ्यात्व युक्त पुरुष में होने के कारण मिथ्या दृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

(२) सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुणस्थान।

स—सहित, आ—किंचित्, स्वादन—स्वाद, अर्थात् किंचित् स्वाद सहित है सम्यक् दृष्टि जिसकी वह सास्वादन—सम्यक् दृष्टि, उसका गुणस्थान, सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुणस्थान।

आत्मा का जब ऊपर वाले गुणस्थानों से पतन होता है एवं जबतक गन्तव्य गुणस्थान (प्रथम) में नहीं पहुंच जाता तबतक कि उस अवस्था का नाम सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुणस्थान है। यह मध्य-वर्त्तनी अवस्था है। फल वृक्ष से गिरता है, परन्तु पृथ्वी को नहीं छू पाता। पृथ्वी को छू जाने के पहले की अवस्था के समान यह द्वितीय गुणस्थान है।

(३) मिश्र गुणस्थान।

यह आत्मा की संदिग्ध, शंका सहित दोलायमान अवस्था है। इसमें विचारधारा निश्चित नहीं हो सकती। तत्वों के प्रति सम्यक् विचार एवं संदिग्ध विचारों का आत्मा में समिश्रण होता है। इस दोलायमान अवस्था वाले का गुणस्थान—मिश्र गुण-स्थान है। पहले गुणस्थान और इस गुणस्थान में यही भिन्नता है कि पहले वाला तो एकान्त रूप से तत्व को मिथ्या मान बैठता है और इस गुणस्थान वाला तत्व में संदिग्ध विचार रखता है।

(४) अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान।

अविरत—अत्याग, त्याग रहित।

त्याग रहित है सम्यक् दृष्टि जिसकी, वह अविरत सम्यक् दृष्टि उसका गुणस्थान, अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान। यह त्याग शून्य सम्यक् ज्ञान की अवस्था

है। इसमे तात्विक ज्ञान के प्रति बुद्धि में अनुकूलता आ जाती है, परन्तु इस अवस्था वाली आत्मा किसी प्रकार का आत्म संयम नहीं कर सकती। इस अवस्था मे मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और सम्यक्त्व, यानी सत्य का दृढ़ श्रद्धान, की प्राप्ति होती है। आत्मा को यहीं से अपना भान होता है—मेरे जीवन का लक्ष्य क्या? मैं संसार में क्यों और किसलिये पड़ा हूं? संसारिक बन्धनों से छूटने का उपाय क्या?—इत्यादिक बातों पर आत्मा सोचने लगती है और मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होने की चेष्टा भी करने लगती है। अन्य दर्शन इस अवस्था को आत्म-दर्शन या आत्म-शाक्षात्कार भी कहते हैं।

(५) देशव्रती सम्यक् दृष्टि गुणस्थान।

देश—असम्पूर्ण, व्रती—विरति, आत्म-संयम, त्याग। असम्पूर्ण त्याग है जिसका वह है देशव्रती। देशव्रती होने के साथ-साथ वह सम्यक् दृष्टि भी है। अतः उसका गुणस्थान देशव्रती सम्यक् दृष्टि गुणस्थान है। चौथी अवस्था में आत्म संयम-त्याग का सर्वथा अभाव है, परन्तु पाँचवीं अवस्था में आत्म संयम-त्याग आंशिक रूप में विद्यमान है। इस गुणस्थान को संयंतासंयती, व्रताव्रती और धर्माधर्मी गुणस्थान भी कहते हैं।

(६) प्रमत्त संयति गुणस्थान।

प्रमत्त—प्रमाद, आत्मवर्त्ती अनुत्साह, संयति—मुनि साधु। प्रमादी साधु का गुणस्थान प्रमत्त संयति गुणस्थान कहा जाता है इसमें अविरति, अत्याग का सर्वथा अभाव हो जाता है। जीवन त्यागमय साधनामय बन जाता है। पूर्वोक्त सभी अवस्थाओं से यह उत्कृष्ट एवं समुज्ज्वल है।

(७) अप्रमत्त संयति गुणस्थान।

अप्रमादी साधु का गुणस्थान है अप्रमत्त संयति गुणस्थान। इस अवस्था में प्रमाद का, अनुत्साह का अभाव है। अतः यह छठी अवस्था से भी अधिक विशद एवं विशिष्ट है।

(८) निवृत्ति वादर गुणस्थान।

वादर—स्थूल कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

निवृत्ति है स्थूल कषाय की जिसमें वह निवृत्ति वादर, उसका गुणस्थान है निवृत्ति वादर गुणस्थान। इस अवस्था में आत्मा स्थूल रूप से कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ—से छुटकारा पा जाती है।

(९) अनिवृत्ति वादर गुणस्थान।

नहीं निवृत्ति है वादर अर्थात् स्थूल कषाय की जिस में वह है अनिवृत्ति वादर, उसका गुणस्थान है अनिवृत्ति वादर गुणस्थान। इस अवस्था में आत्मा

कषाय से प्रायः निवृत्त हो जाती है। कषाय रहती अवश्य है परन्तु स्थूल रूप से। पूर्व अवस्था में निवृत्ति को प्रधान मानकर निवृत्ति वादर गुणस्थान कहा है और इस अवस्था मे कषाय जितनी अवशिष्ट है उसको लक्ष्य कर अर्थात् अनिवृत्ति को प्रधान मान-कर अनिवृत्ति वादर गुणस्थान—ऐसा कहा है। आठवें गुणस्थान मे स्थूल रूप से कषाय का नाश होता है और नवमें गुणस्थान में कषाय स्थूल रूप से रहती है। उदाहरणार्थ—यह पुस्तक इस पुस्तक से स्थूल है। सोहन की अपेक्षा मोहन की बुद्धि स्थूल है। इन दोनों में स्थूल शब्द विद्यमान हैं तौ भी अर्थ मे एक दूसरे से भिन्न है। पुस्तक सम्बन्धी स्थूल शब्द पुस्तक की महत्ता सूचित करता है और जो स्थूल शब्द बुद्धि का विशेषण है वह बुद्धि न्यूनता का सूचक है। ऐसे ही आठवीं अवस्था में जो वादर शब्द है वह कषाय की महत्ता बताता है और नवमी अवस्था में जो वादर शब्द है वह कषाय की न्यूनता का बोध कराने वाला है।

(१०) सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान।

सम्पराय—लोभ कषाय।

सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खण्ड विद्यमान हो जिस में वह है सूक्ष्म सम्पराय, उसका गुण-

स्थान है सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान। इस अवस्था में क्रोध, मान, माया ये तीन कषाय तो नष्ट हो जाती हैं, सिर्फ लोभ कषाय ही अस्थि पंजर के रूप में रहती है।

(११) उपशान्त मोह गुणस्थान।

उपशान्त मोह अर्थात् किंचित् काल के लिये शान्त हो गया है, दब गया है, मोहनीय कर्म जिसका वह है उपशान्त मोह, उसका गुणस्थान है उपशान्त मोह गुणस्थान। इस अवस्था में अवशिष्ट लोभ का उपशम होता है, किन्तु समूल विच्छेद नहीं। वह पुनः राख से ढकी हुई आग की तरह भभक सकता है।

(१२) क्षीण मोह गुणस्थान।

क्षीण अर्थात् समूल नष्ट हो गया है मोहनीय कर्म जिसका वह है क्षीण मोह, उसका गुणस्थान है क्षीण मोह गुणस्थान। इस अवस्था में मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है। पूर्व अवस्था में संज्वलन लोभ का अस्तित्व नहीं मिटता, इस अवस्था में लोभ सदा के लिये विदाई ले लेता है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान।

स—सहित, योग—मन वचन काय की प्रवृत्ति, केवली—सर्वज्ञ। योग सहित है जो केवली वह है सयोगी केवली, उसका गुणस्थान है सयोगी केवली गुणस्थान। इस अवस्था में आत्मा के स्वाभाविक

गुण, जो कर्म-वर्गणा से आच्छन्न रहते हैं, वे प्रगट हो जाते हैं एवं आत्मा को सदा के लिये वास्तविक आनन्द होने लगता है। शान्त रस का श्रोत श्रोतस्पति का उत्कट रूप धारण कर लेता है।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान।

इस अवस्था में सयोगी केवली, मनो वाक् काय योग का निरोध करके अयोगी—योग रहित—केवली वन जाते हैं। इस अवस्था से वे अनादिकालीन कर्म वन्धन को तोड़ कर सर्वथा मुक्त और स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके संसारी जीवन की इति श्री हो जाती है।

प्रश्न—गुणस्थानों का निर्माण किस भित्ति के आधार पर है?

उत्तर—आत्मा में पांच प्रकार के मालिन्य हैं। पहला मालिन्य सम्यक् श्रद्धान रूप आत्म गुण को आच्छादित कर, बुद्धि को विपरीत बनाता है। दूसरा मालिन्य सर्वतः सन्तुष्ट आत्मा को आशा तृष्णा की मृग मरीचिका में कर्त्तव्य मूढ़ वनाकर अ—कर्त्तव्य की ओर अग्रसर करता है। तीसरा मालिन्य आत्मा के सतत उत्साह को भंग कर प्रमाद पथ का पथिक वनाता है। चौथा मालिन्य आत्मा के क्षमा प्रमुख गुणों का विनाश कर आत्मा को संतप्त करने में सफल है। पाँचवाँ मालिन्य आत्मा की स्थिरता को हटा कर आत्मा को चंचल बनाता है—इन मालिन्यों का

नाम जैन परिभाषा में आश्रव है मिथ्यात्व आश्रव, अव्रत आश्रव, प्रमाद आश्रव, कषाय आश्रव, योग आश्रव। इन पाँच आश्रवों एव मोहनीय कर्म की प्रबलता व निर्बलता पर ही जीव की चौदह अवस्थाओं का निर्माण किया गया है। जितना जितना मालिन्य हटता है उतनी उतनी ही आत्म-विशुद्धि होती है और इसी विशुद्धि-उज्ज्वलता का नाम गुण-स्थान है।

पहली अवस्था में विपरीत बुद्धि बनी की बनी रहती है। पौद्गलिक-भौतिक को सार और आध्यात्मिक को असार समझने की भावना बलवती रहती है। यह ठीक वस्तु स्थिति को उलटने वाली मनोदशा है। ऐसी परिस्थिति होने पर जो जो ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम— परिमित रूप से अभाव-है, वह गुणस्थान है, किन्तु जो मिथ्यात्व है, तत्वज्ञान के प्रति विपरीत आस्था है वह गुणस्थान नहीं है। मिथ्या दृष्टि में समता हो सकती है जिससे वह गुणस्थान का अधिकारी बन सकता है। मिथ्या दृष्टि में जो यथास्थित ज्ञान होता है वह उसका गुणस्थान है। मिथ्यात्वी गाय को गाय जानता है, भैंस को भैंस जानता है और भी जो जो वस्तुएँ जिस रूप में है वह उनको वैसा ही जानता है। वह

उसका जानना ठीक है और गुणस्थान है। उसे सिर्फ तत्व ज्ञान के प्रति जानकारी या रुचि नहीं होती है और इसी कारण वह मिथ्यात्वी कहलाता है। यह वात नहीं कि जो मिथ्यात्वी होता है वह किसी भी पदार्थ को ठीक तरह से नहीं जान सकता। इस प्रथम अवस्था वाले व्यक्ति अगाध भौतिक ज्ञान रख सकते हैं किन्तु आत्म-तत्व-ज्ञान के प्रति वे उदासीन रहते हैं उनकी आत्मा उन्हें कहती है—ऐ मानव ! तूं तेरे स्वरूप को समझे विना दूसरे (भौतिक) स्वरूप को अपनाता है, अतः तेरा ज्ञान मिथ्या है। त इस वन्धन को तोड़ कर, अपने असली स्वरूप में आकर अपना उद्धार कर—आत्मा का यह अनुपम संदेश पाकर वे अपने उद्धार की ओर अग्रसर होते हैं और इस अवस्था से विदाई लेने के लिये ग्रन्थी-भेद करते हैं। विकासगामी आत्मा मोह की प्रवल शक्ति को छिन्न-भिन्न करती है—इसी का नाम जैन परिभाषा मे ग्रन्थि भेद है। ग्रन्थि भेद होने से मोह की प्रबल शक्ति तितर-बितर हो जाती है। दर्शन मोह पर आत्मा विजय वैजयन्ती फहराती हुई, पहली अवस्था को समाप्त कर चौथी अवस्था में चली जाती है। पर-रूप में स्व-रूप की भ्रान्ति को हटा कर अपने पन के सच्चे स्वरूप का अनुभव करने लग जाती है

और सच्चे आत्मीय स्वरूप के श्रोत में बहती हुई अन्तिम ध्येय मोक्ष को प्राप्त करने की कोशिश में आत्म-स्वरूप को अटल रखती हुई पाँचवीं अवस्था को पाकर कुछ सफलता का अनुभव करती है और इस में कुछ-कुछ आत्म-संयम (त्याग)-सुधा का अनुपम पान हो जाता है। विकास अभिमुख आत्मा उत्त-रोत्तर आत्मानन्द का अनुभव करने को लालायित होकर पूर्ण आत्म-संयम के अनन्य उत्साह से सातवीं अवस्था में चली जाती है। जब उत्साह में कुछ न्यूनता आ जाती है तब सातवीं से छठी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है। फिर कभी उत्कटता आई और सातवीं। सातवीं गयी फिर छठी। सातवीं और छठी अवस्था का यह क्रम बराबर चालू रहता है।

आठवीं अवस्था में मोह को नष्ट करने के लिये अधिक आत्मबल की आवश्यकता होती है और इस अवस्था में अभूत पूर्व आत्म-विशुद्धि होती है, अतः इसे अ-पूर्व करण भी कहते हैं। इससे दो श्रेणियाँ निकलती है—उपशम और क्षायक। नवमी में क्रोध, मान, माया को, दशवीं में लोभ को उपशान्त व क्षीण बनाकर उपशम वाला इग्यारवीं में और क्षायक वाला बारहवीं में चला जाता है इग्यारवीं अवस्था वाला

मोह को दवाता-दवाता वढ़ता है इसलिये उसका अन्तर्मुहूर्त्त के वाद उस गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में जाना अवश्यम्भावी वन जाता है। वारहवीं अवस्था वाला मोह को क्षीण करता हुआ आगे वढ़ता है अतः उसे तेरहवीं अवस्था की प्राप्ति से वास्तविक परमानन्द का अनुभव हो जाता है। चार घातिक कर्मों के विनाश से अनादि कालीन ज्ञान का आवरण सर्वथा छिन्न-भिन्न होकर अपना अस्तित्व खो वैठता है। चौदहवीं अवस्था अल्प-कालीन है उसमें जाते ही मनोयोग का उसके वाद वाक् योग का एवं उसके वाद काय योग का निरोध हो जाता है चार अवशिष्ट कर्म भी शेष हो जाते हैं। संसार से मुक्ति पाकर आत्मा मुक्ति की ओर प्रस्थान कर देती है।

शुद्ध चेतन की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है। अतः मुक्त आत्मा ऊँचा-ऊँचा वहाँ तक चला जाता है जहाँ तक उसकी गति में सहायक धर्मास्तिकाय रहती है। उसके आगे गति हो नहीं सकती इसलिये वह शुद्ध आत्मा वहीं स्थिर हो जाती है। यह स्थान लोक के अन्तिम भाग पर है और इसे सिद्ध-गति, सिद्ध-शिला या मोक्ष स्थान कहते हैं।

आत्मा ने जिस अन्तिम शरीर से मोक्ष प्राप्त किया है, उसका $\frac{1}{3}$ भाग तो (मुख, कान, पेट आदि खाली

अङ्गों में) पोला होता है, इतना भाग बाद जाकर बाकी के ⅔ भाग में उस जीवात्मा के प्रदेश उस सिद्ध स्थान में फैल जाते हैं इसे उस जीवात्मा की अवगाहन कहते हैं। भिन्न-भिन्न सिद्धात्माओं के प्रदेश परस्पर अव्याघात रहने से एक दूसरे से टकरा नहीं जाते। प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखती है। एक ही कमरे में हजारों दीपक रहने पर भी उनका प्रकाश एक दूसरे से टकराता नहीं परन्तु समूचे कमरे में प्रत्येक दीपक का प्रकाश व्याप जाता है। ऐसी परम निर्मल आत्माओं का, वीतराग, वीतमोह, वीतद्वेष होने से, इस संसार में पुनरागमन नहीं हो सकता।

दूसरी अवस्था आध्यात्मिक विकास क्रम की नहीं, परन्तु आध्यात्मिक विकास के पतन की है। इसका विवरण पहले आ चुका है। पतन का अन्तराल काल दूसरी अवस्था है।

तीसरी अवस्था पर उत्क्रान्ति व अपक्रान्ति करने वाली आत्मा—इन दोनों का अधिकार है। उत्क्रान्ति करने वाली आत्मा प्रथम गुणस्थान से एवं अपक्रान्ति करने वाली आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में चली जाती है।

प्रथम गुणस्थान वाली आत्माओं के संसार भ्रमण की कोई सीमा नहीं होती है। मोक्ष में नहीं जाने वाले जीवों का यही अक्षय भण्डार है। इसके सिवाय किसी भी अवस्था मे जीव अनन्त काल तक नहीं रह सकता। इसकी समुद्र से तुलना होती है और अन्य अवस्थाओं की छोटे जलाशयों के साथ तुलना की जा सकती है। यह अवस्था अभव्य जीवों के लिये अनादि और अनन्त है और भव्य—मोक्ष जाने वाले—जीवों के लिये अनादि और सान्त—अन्त सहित—है। इसके सिवाय दूसरी सब अवस्थायें अवधि सहित हैं। सादि—आदि सहित—सान्त—अन्त सहित हैं। दूसरी अवस्था का कालमान छव आवलिका का है। तीसरी अवस्था का काल-मान अन्तर्मुहूर्त्त का है। चौथी अवस्था का कालमान ६६ सागर से कुछ अधिक का है। पांचवीं और छठी अवस्था का कालमान कुछ कम क्रोड़ पूर्व का है। सातवीं से लेकर बारहवीं अवस्था तक का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है। तेरहवीं अवस्था का कालमान क्रोड़ पूर्व से कुछ कम है। चौदहवीं अवस्था का कालमान पांच ह्रस्वाक्षर—अ, इ, उ, ऋ, ऌ—उच्चा-रण मात्र का है।

बोल बारहवाँ

पांच इन्द्रियों के तेवीस विषय—

पांच इन्द्रियों के विषय, गोचर कार्य क्षेत्र या विहरण क्षेत्र तेवीस हैं। सामान्यतः श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द, चक्षुः इन्द्रिय का रूप, घ्राण इन्द्रिय की गन्ध, रसनेन्द्रिय का रस तथा स्पर्शन इन्द्रिय का स्पर्श—ऐसा प्रत्येक इन्द्रिय का एक एक विषय है। इनके भेद करने से तेवीस हो जाते हैं जैसे:—

संसार के समस्त पदार्थ दो भागों में बाटे जा सकते हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। जिन में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हों वे हैं मूर्त्त। सिर्फ मूर्त्त पदार्थ ही इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, अमूर्त्त नहीं। पांच इन्द्रिय इस मूर्त्त द्रव्य की पारस्परिक भिन्न भिन्न अवस्था विशेषों को जानने मे प्रवृत्त होती है। पांच इन्द्रियों के पांच विषयों को (या तेवीस भेदों को) स्वतंत्र अलग अलग वस्तु न समझ कर एक ही मूर्त्त द्रव्य का अंश समझना चाहिये। उदाहरण—एक लड्डू है उसको भिन्न भिन्न रूप से पांचों इन्द्रियाँ जानती हैं। अङ्गुली छू कर उसका शीत उष्ण आदि स्पर्श बता सकती है। जीभ चख कर उसका खट्टा मीठा आदि रस बतला सकती है। नाक सूघ कर उसकी खुशबू या बदबू की जानकारी कर लेता है। आख देख कर उसका लाल पीला आदि वर्ण बता देती है। कान उस लड्डू को खाने आदि से उत्पन्न होने वाले शब्दों द्वारा जानता है। उस लड्डू में स्पर्श रस गन्ध आदि पांच विषयों का स्थान अलग अलग नहीं किन्तु वे सभी उसके सब भागों में एक साथ रहते हैं, वे एक ही द्रव्य के अविभाज्य पर्याय है। इन्द्रिय चाहे कितनी ही चतुर क्यों न हो, पर अपने विषय के अलावा अन्य विषय को जानने में कभी समर्थ नहीं हो सकती। आंख कभी भी सुन नहीं सकती और कान देख नहीं सकता। पांच इन्द्रियों के पांच विषय सर्वथा पृथक् पृथक् है।

शब्द।

शब्द अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्ध का विशिष्ट परिणाम

है। शब्द की उत्पत्ति के दो कारण है—संघात और भेद। असम्बन्धित वस्तुओं का सम्बन्ध होने से और सम्बन्धित पदार्थों का सम्बन्ध विच्छेद होने से ध्वनि का, शब्द का जन्म होता है। शब्द तीन प्रकार के हैं—सचित्त शब्द, अचित्त शब्द और मिश्र शब्द।

सचित्त अर्थात् चेतन जीवों के द्वारा जो शब्द बोला जाता है वह है सचित्त शब्द। अचित्त अर्थात् जड पदार्थों के द्वारा जो शब्द होता है वह है अचित्त शब्द। सचित्त और अचित्त दोनों के संयोग से जो शब्द होता है वह है मिश्र शब्द। शब्द मात्र श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है।

रूप।

रूप भी पुद्गलों का परिणाम अवस्था विशेष है। रूप के दो अर्थ हैं—आकार व वर्ण। प्रस्तुत विषय में रूप का अर्थ वर्ण ही ग्राह्य है, आकार नहीं। वर्ण स्वयं पुद्गल नहीं, किन्तु पुद्गल का गुण है। वर्ण पाच प्रकार के हैं कृष्ण, नील, रक्त, पीत श्वेत। सन्निपातिक मिले हुए Mixed वर्ण और भी अनेक हो सकते हैं जैसे एक गुण श्वेत वर्ण के साथ एक गुण कृष्ण वर्ण का संयोग होने से कापोत वर्ण हो जाता है। परन्तु यहाँ पर मुख्यतया पांच वर्णो का ही विधान है। रूप मात्र चक्षुः इन्द्रिय का विषय है।

गन्ध ।

गन्ध भी पौद्गलिक है। इसके दो भेद हैं सुगन्ध और दुर्गन्ध। सुगन्ध इष्ट परिमल है इससे मन व इन्द्रिय प्रसन्न होते हैं। दुर्गन्ध अनिष्ट परिमल है इससे मन व इन्द्रिय व्याकुल होते हैं। गन्ध मात्र घ्राणेन्द्रिय का विषय है।

रस ।

रस भी पौद्गलिक है। यह पांच प्रकार के हैं—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर। रस मात्र रसनेन्द्रिय का विषय है। इमली का रस आम्ल खट्टा Acid होता है। चीनी का रस मधुर Sweet है। नीम का रस कटु Bitter होता है। हरड़ा कषैला Astringent होता है। सौंठ तिक्त है।

स्पर्श ।

यह भी पुद्गल परिणाम है। इसके आठ भेद हैं—(१) शीत, (२) उष्ण, (३) रूक्ष, (४) स्निग्ध (५) लघु, (६) गुरु, (७) मृदु, (८) कर्कश।

इनमें चार आदि के स्पर्श मूल के हैं और अन्तिम चार स्पर्श इनकी बहुलता से बनते हैं। लघुता, गुरुता, मृदुता व कठिनता आपेक्षिक हैं। व्यवहार दृष्टि से पदार्थ गुरु, लघु, गुरुलघु, अगुरुलघु—ये चार प्रकार के होते हैं। पत्थर गुरु है, दीप-शिखा लघु

है, हवा गुरुलघ है, आकाश अगुरुलघु है। परन्तु निश्चय दृष्टि से न तो कोई द्रव्य सर्वथा लघु और न सर्वथा गुरु है। पत्थर आदि गुरु है तौ भी प्रयोग से ऊपर चले जाते हैं, अतः एकान्त रूप से गुरु नहीं। छत से गिराया हुआ रूई का पुञ्ज भी नीचे चला जाता है अतः एकान्त रूप से लघु नहीं। किन्तु रूई की अपेक्षा पत्थर भारी है और पत्थर की अपेक्षा रूई का पुञ्ज हल्का है। ऊपर तथा नीचे जाने में लघुता व गुरुता निश्चित रूप से कारण नहीं। मुख्यतः जो ऊर्ध्व गति परिणाम वाले पुद्गल हैं वे ऊर्ध्व गति करते हैं और जो अधोगति परिणाम वाले हैं वे अधोगति करते हैं। ऊर्ध्व गति परिणाम से धुआं नीचे से ऊपर जाता है और अधोगति परिणाम से वस्तु ऊपर से नीचे की ओर आती है। यहां पर ऊर्ध्व गति परिणाम व अधोगति परिणाम ही कारण है, गुरुता व लघुता कारण नहीं। परिणाम का परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन स्वभाव से ही हो जाता है, प्रयोग से भी हो सकता है। तात्पर्य यही है कि मूल चार स्पर्श वाले स्कन्ध अगुरुलघु ही होते हैं जैसे उच्छ्वास, कार्मण, मन व भाषा के पुद्गल स्कन्ध। अष्ट स्पर्शीय स्कन्ध गुरुलघु होते हैं जैसे कार्मण वर्जित चार शरीर के पुद्गल स्कन्ध।

कई ग्रन्थों में स्पर्श के निम्नोक्त लक्षण बताये जाते हैं उष्ण स्पर्श मृदुता व पाक करने वाला है। शीत स्पर्श निर्मलता व स्तम्भित करने वाला होता है। स्निग्ध स्पर्श संयोग होने का कारण है। रूक्ष स्पर्श संयोग नहीं होने का कारण है। लघु स्पर्श उर्ध्व गमन व तिर्यङ्क गमन करने का कारण है। गुरु स्पर्श अधो-गमन करने का कारण है। मृदु स्पर्श नमन का कारण और कठिन स्पर्श अ-नमन का कारण है।

चतुः स्पर्शी स्कन्ध से अष्ट स्पर्शी स्कन्ध बनने का कारणः—

"शीत उष्ण निध रूक्ष रै, सूक्ष्म प चिहु मूलगा।
अन्य चिहु क ख ड़ प्रमुख रै, ते किम बादर नीपजे॥
लूख फर्श नी जाण रै, बहुलताई करी हुवे लघु।
निध तणी पहिचाण रै, बहुलताई करी हुवे गुरु॥
—इत्यादि।

—श्री मद् जयाचार्य कृत—भगवती जोड़ शतक १८ उद्देशा ६

रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से गुरु स्पर्श होता है। शीत व स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श होता है। उष्ण या रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता

है इस प्रकार चार स्पर्श बन जाने से वह सूक्ष्म स्कन्ध भी वादर स्कन्ध वन जाता है।

पूर्वोक्त सभी वस्तुयें पौद्गलिक हैं। पौद्गलिक होने के कारण मूर्त्त हैं। मूर्त्त होने के कारण इन्द्रिय बोध गम्य हैं। यह कोई नियम नहीं कि जितने मूर्त्त पदार्थ हैं वे सब के सब इन्द्रिय द्वारा जाने जा सकते हैं। परमाणु मूर्त्त हैं तो भी इन्द्रिय गम्य नहीं। अनन्त परमाणुओं का एक स्कन्ध बनता है तो भी जबतक सूक्ष्म परिणाम की निवृत्ति और स्थूल परिणाम की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह भी इन्द्रिय विषयातीत है। जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब मूर्त्त हैं और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म-यंत्रों माइक्रोसकोप Microscope से जो दृष्टिगोचर होते हैं वे भी अनन्त प्रदेशी स्कन्ध हैं। परमाणु आदि तो प्रत्यक्ष ज्ञान (अवधि ज्ञान) के बिना दीख भी नहीं सकते। शब्द आदि जितने भी इन्द्रिय विषय हैं वे सब अनन्त प्रदेशी स्कन्ध हैं अतः इन्द्रिय ज्ञान की सीमा में है। स्थूल परिणाम वाले पुद्गल स्कन्ध इन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं, सूक्ष्म परिणाम वाले नहीं। यदि ऐसा माना जाय तब तो कहना होगा कि सामान्यतः जो आंखों से दीखते हैं-वे स्थूल हैं और जो यंत्रों की सहायता से दीखते हैं वे सूक्ष्म हैं परन्तु बात ऐसी नहीं है। दृष्टि में आनेवाले सब स्थूल हैं चाहे वे आंखों से देखे जायँ अथवा वाह्य साधनों की सहायता से देखे जायँ। यदि कोई यह पूछ बैठे कि यदि यह स्थूल है तो फिर पर्याप्त सहयोग के बिना दीखता क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय ज्ञान

को वाह्य साधनों की अपेक्षा रहती है, जब तक इन्द्रिय को वाह्य सामग्री की पूर्णता प्राप्त नहीं होती तबतक वह इन्द्रिय भी अपने विषय को पूर्णतया नहीं जान सकती।

बोल तेरहवाँ

दश प्रकार के मिथ्यात्व—

दस विहे मिच्छत्ते। पं। तं। अधम्मे धम्म सन्ना, धम्मे अधम्म सन्ना, अमग्गे मग्ग सन्ना, मग्गे अमग्ग सन्ना, अजीवेसु जीव सन्ना, जीवेसु अजीव सन्ना, असाहुसु साहु सन्ना, साहुसु असाहु सन्ना, अमुत्तेसु मुत्त सन्ना, मुत्तेसु अमुत्त सन्ना।

दस विधं मिथ्यात्वम् प्रज्ञसम् तद्यथा, अधर्मे धर्म संज्ञा, धर्मे अधर्म संज्ञा, अमार्गे मार्ग संज्ञा, मार्गे अमार्ग संज्ञा, अजीवेषु जीव संज्ञा, जीवेषु अजीव संज्ञा, असाधुषु साधु संज्ञा, साधुषु

असाधु संज्ञा, अमुक्तेषु मुक्त संज्ञा मुक्तेषु अमुक्त संज्ञा।

—ठाणांग ठाणा—१०

विपरीत श्रद्धान रूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं। जो बात जैसी हो उसे वैसी न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है। निम्नोक्त दश बातों को विपरीत सरधने वाले मिथ्यात्वी कहलाते हैं—

(१) धर्म को अधर्म समझने वाला मिथ्यात्वी।
(२) अधर्म को धर्म समझने वाला मिथ्यात्वी।
(३) साधु को असाधु समझने वाला मिथ्यात्वी।
(४) असाधु को साधु समझने वाला मिथ्यात्वी।
(५) मार्ग को कुमार्ग समझने वाला मिथ्यात्वी।
(६) कुमार्ग को मार्ग समझने वाला मिथ्यात्वी।
(७) जीव को अजीव समझने वाला मिथ्यात्वी।
(८) अजीव को जीव समझने वाला मिथ्यात्वी।
(९) मुक्त को अमुक्त समझने वाला मिथ्यात्वी।
(१०) अमुक्त को मुक्त समझने वाला मिथ्यात्वी।

वस्तु का स्वरूप लक्षण से जाना जाता है। लक्षण ही वस्तु का विभाग करता है। लक्षण की परिभाषा है—संकीर्ण—

सम्मिलित—मिली हुई वस्तुओं को अलग अलग करने वाला। इस वोल में आये हुये धर्म, अधर्म, जीव, अजीव आदि वस्तुओं के लक्षणों का ज्ञान जरूरी है। इनके जानने से ही हम इस वोल के वास्तविक रहस्य को समझ सकते हैं।

धर्म-अधर्म।

जिससे आत्म-स्वरूप की उन्नति एवं अभ्युदय हो उसे धर्म कहते हैं। आत्म-स्वरूप का पूर्ण उदय मोक्ष है। धर्म दो प्रकार के माने गये हैं—संवर और निर्जरा। संवर का अर्थ है—नये कर्मों के प्रवेश को रोकना और निर्जरा का अर्थ है पहले बंधे हुये कर्मों का नाश करना। संवर से आत्मिक उज्ज्वलता को रक्षा होती है और निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है। दूसरे शब्दों में संवर तो है आत्म-संयम और निर्जरा है सत्प्रवृत्ति। संवर और निर्जरा का भेद खूब वारीकी से समझना चाहिये।

धर्म को अधर्म समझना और अधर्म को धर्म समझना ही मिथ्यात्व है।

मार्ग-कुमार्ग।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, रास्ते हैं, साधन हैं, उपाय हैं। ज्ञान द्वारा आत्मा पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानती है। दर्शन द्वारा

उन पर श्रद्धा करती है। चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के प्रवेश को रोकती है एवं तप द्वारा पुराने कर्मों का विनाश कर आत्मा शुद्ध होती है, निर्मल होती है। इन चारों को मोक्ष का मार्ग न समझना और इन से भिन्न को मोक्ष का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

जीव-अजीव।

जैन दर्शन में जीव अजीव के फर्क को भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से बड़ी बारीकी से समझाया गया है। आत्म विकास की ओर अग्रसर होनेवाले व्यक्ति को जीव अजीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना बहुत ही जरूरी है। जीव अजीव का स्वरूप जानने वाला ही संयम का स्वरूप जान सकता है।

जीव का लक्षण है चेतना। चेतना लक्षण ही जीव को अजीव से, जड पदार्थ से अलग करता है। जिसमें चेतनता हो वह जीव है और जिसमें चेतनता न हो वह अजीव है। चेतनायुक्त मे अचेतन की श्रद्धान करना और अचेतन में सचेतन का विश्वास करना मिथ्यात्व है।

साधु-असाधु।

साधु का लक्षण है—पंच महाव्रत पालन करना सम्पूर्ण रूप से। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, इन पांच महाव्रतों को पालन करने वालों को

तो असाधु और न पालन करने वालों को साधु समझना मिथ्यात्व है।

मुक्त-अमुक्त।

मुक्त-आत्मा का लक्षण है—आठ कर्मों से मुक्ति या छुटकारा पाना। मुक्त कर्म रहित होते हैं। जो कर्म रहित हैं उनको कर्म सहित समझना और जो कर्म सहित हैं उनको कर्म रहित समझना मिथ्यात्व है।

धर्म, मार्ग, जीव, साधु और मुक्त—ये पांच तत्व आध्यात्मिक भवन के विशाल स्तम्भ हैं। जीव या आत्मा मूल भित्ति है। धर्म और मार्ग—ये दो उसकी उन्नति के साधन हैं। साधु आत्मोन्नति का कार्य-क्षेत्र है, क्योंकि धर्म या मार्ग की साधना साधु अवस्था में ही सुचारु रूप से सम्भव है। साधना का अन्तिम लक्ष्य या उत्कृष्ट फल मोक्ष है।

बोल चौदहवाँ

नवतत्व के ११५ भेद—

जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो सन्ते ए तहि या नव॥

—उत्तराध्ययन अ० २८

जीवा अजीवाश्च बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवौ तथा।
संवरो निर्जरा मोक्षः सन्त्येते तथ्या नवः॥

रहस्यभूत वस्तु को तत्व कहते हैं। तत्व संख्या में नौ हैं, उनके भेद निम्नोक्त हैं –

(१) जीव	(२) अजीव	(३) पुण्य	(४) पाप	(५) आश्रव
१४	१४	६	१८	२०
(६) संवर	(७) निर्जरा	(८) बंध	(९) मोक्ष	
२०	१२	४	४	

इस प्रकार नव तत्वों के ११५ भेद होते हैं।

जीव चेतनामय अविभाज्य असंख्य प्रदेशी पिण्ड। अजीव जड, अचेतनामय तत्व। पुण्य सुख देनेवाला, उदयमान शुभ कर्म पुद्गल समूह। पाप दुःख देनेवाला, उदयमान अशुभ कर्म पुद्गल समूह। आश्रव कर्म ग्रहण करनेवाली आत्मा की अवस्था। संवर कर्म निरोध करनेवाली आत्मा की अवस्था। निर्जरा कर्म तोड़ने वाली आत्मा की अवस्था। बंध आत्मा के साथ दूध पानी की भांति एकी भूत होने वाला पुद्गल समूह। मोक्ष आत्मा का शरीर आदि से अत्यन्त वियोग या आत्म स्वरूप का अत्यन्त प्रकट होना।

जीव तत्व।

जीव चेतनामय अविभाज्य असंख्य प्रदेशों का पिंड है। एक इन्द्रिय वाले जीव दो प्रकार के होते हैं सूक्ष्म और बादर।

सूक्ष्म—आंखों से नहीं दीखने वाले, दृष्टि-विषयातीत शरीर वाले।

वादर दृष्टि गोचर शरीर वाले।

सूक्ष्म और वादर का उपरोक्त अर्थ व्यवहार दृष्टि से है। वास्तव में तो सूक्ष्म-नाम-कर्म के उदय से सूक्ष्म और वादर नाम-कर्म के उदय से वादर होता है, किन्तु इतना ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि एकेन्द्रिय के सिवाय किसी भी जाति में सूक्ष्म शरीर वाले जीव नहीं होते। वादर एकेन्द्रिय के शरीर भी अलग अलग नहीं देखे जाते किन्तु वे समुदाय रूप में देखे जाते हैं जैसे मिट्टी की डली, पृथ्वी कायिक जीवों का शरीर समुदाय है। पानी की बूंद, अप् कायिक जीवों का शरीर समुदाय है। इत्यादि।

जीव-तत्व के १४ भेद किये गये हैं जैसे—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के	दो	भेद—	अपर्याप्त	और पर्याप्त
वादर एकेन्द्रिय	"	"	"	"
द्वीन्द्रिय	"	"	"	"
त्रीन्द्रिय	"	"	"	"
चतुरिन्द्रिय	"	"	"	"
असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय	"	"	"	"
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	"	"	"	"
		कुल		१४ भेद

उपरोक्त चौदह भेद शरीर धारण करने वाले प्राणियों के सम्बन्ध से हैं। जीव परिमाण (संख्या) में अनन्त हैं। यद्यपि प्रदेश परिमाण से, चेतना लक्षण से, जीवत्व से सब जीव समान हैं तौ भी कर्मों की विविधता से उनके अनेक भेद हो जाते हैं जैसे कोई

जीव सूक्ष्म शरीर वाला होता है, कोई स्थूल शरीर वाला, कोई एक इन्द्रिय वाला, कोई दो तीन चार पांच इन्द्रिय वाला, कोई संज्ञी—मन सहित है तो कोई असंज्ञी मन रहित है इत्यादि कर्म जनित भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण एक ही स्वरूप वाले जीव भी अनेक स्वरूप वाले प्रतीत होते हैं।

इस प्रकरण में जो जीव के चौदह भेद किये गये हैं वे सब उत्पत्ति के समय मिलने वाली पौद्गलिक शक्ति—पर्याप्ति—की योग्यता को ध्यान में रखकर किये गये हैं। पौद्गलिक शक्ति की योग्यता सब जीवों में समान रूप से नहीं मिलती। एक इन्द्रिय वाले जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास—इन चार पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी—पंचेन्द्रिय तक के जीव, मनः पर्याप्ति को छोड़कर शेष पाँचों पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं[1]। संज्ञी पंचेन्द्रिय के जीव छवों ही पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं। जिस जाति के जीव में जितनी पर्याप्तियाँ हो सकती है उतनी पाये बिना ही जो जीव मर जाते हैं या जबतक पूर्ण नहीं कर पाते हैं तबतक उसे अपर्याप्त कहते हैं और जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पा लेता है वह पर्याप्त कहलाता है। पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना कोई भी जीव मर नहीं सकता। इनकी पूर्त्ति के बाद एक इन्द्रिय जीव श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति को जबतक पूर्ण नहीं कर

१ असज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य सिर्फ ३॥ पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं वे श्वास लेते हैं, निश्वास नहीं।

लेता तबतक वह अपर्याप्त है जो पूर्ण कर लेता है वह पर्याप्त है। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव भाषा पर्याप्ति को जबतक पूर्ण नहीं करते हैं तबतक वे अपर्याप्त हैं जो पूर्ण कर लेते हैं वे पर्याप्त हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मनः पर्याप्ति को जबतक पूर्ण नहीं करते हैं तबतक वे अपर्याप्त हैं और जो पूर्ण कर लेते हैं वे पर्याप्त हैं।

अजीव तत्व।

मुख्यतया अजीव के पाँच भेद हैं, परन्तु उनके विभाग १४ किये जा सकते हैं जैसे—

(१) धर्मास्तिकाय— (१) स्कन्ध
(२) देश
(३) प्रदेश

(२) अधर्मास्तिकाय— (४) स्कन्ध
(५) देश
(६) प्रदेश

(३) आकाशास्तिकाय—(७) स्कन्ध
(८) देश
(९) प्रदेश

(४) काल— (१०) काल

(५) पुद्गलास्तिकाय — (११) स्कन्ध
(१२) देश
(१३) प्रदेश
(१४) परमाणु

धर्मास्तिकाय[1]।

गति परिणाम वाले जीव एवं पुद्गलों को गति में, उनके हलन-चलन में जो सहायता करता है उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं जैसे मछली की गति में पानी सहायक है।

धर्मास्तिकाय सर्व लोक व्यापी तथा असंख्यात् प्रदेशी है। लोक के हर कोने में यह विद्यमान है।

धर्मास्तिकाय भूतक़ाल में था, वर्तमान में है और भविष्यत् में रहेगा अतः यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय है।

धर्मास्तिकाय अरूपी है। वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श रहित है। चेतना रहित है। जड है। अजीव है।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार इसे Ether की श्रेणी में शुमार किया जा सकता है।

धर्मास्तिकाय के तीन भेद किये गये हैं—

(१) स्कन्ध—स्कन्ध के दो अर्थ हैं एक तो अखण्ड वस्तु को स्कन्ध कहते हैं। दूसरा—कई अलग अलग अवयव (हिस्से) इकट्ठे होकर जो एक अवयवी अर्थात् एक समूह बन जाता है उस समुदित अवस्था का नाम स्कन्ध है।

(२) देश—स्कन्ध का एक कल्पित भाग।

---

१ धर्मास्तिकाय का खुलासा बीसवें बोल में किया गया है।

(३) प्रदेश—निरंश अंश अर्थात् जिस अंश के दो अंश नहीं हो सकते। यह स्कन्ध का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग है।

धर्मास्तिकाय का स्कन्ध सकल लोक व्यापी है। धर्मास्तिकाय का देश—जैसे पूर्व दिशि या उत्तर दिशि में धर्मास्तिकाय की कल्पना करना। प्रदेश—धर्मास्तिकाय के असंख्य प्रदेश हैं।

अधर्मास्तिकाय।[1]

स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को स्थिर रखने में जो सहायता करती है, उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। यह भी असंख्यात् प्रदेशी, सकल लोक व्यापी, त्रिकाल स्थायी, अरूपी, अचेतन, अजीव द्रव्य है। इसके भी स्कन्ध, देश, प्रदेश तीन भेद हैं।

आकाशास्तिकाय।[2]

जो जीव पुद्गल आदि द्रव्यों को रहने के लिये स्थान दे, अवकाश दे, आश्रय दे वह आकाशास्तिकाय है। आकाशास्तिकाय लोक, अलोक दोनों में व्याप्त है और अनन्त प्रदेशी है, त्रिकाल स्थायी है, अरूपी है। इसके भी तीन भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश।

काल।

काल काल्पनिक अजीव द्रव्य है। सूर्य, चन्द्रमा की गति क्रिया के आधार पर इसकी गति ली गयी है। इसके

---

१ अधर्मास्तिकाय का विशेष विवरण बीसवें बोल में मिलेगा।

२ आकाशास्तिकाय का खुलासा बीसवें बोल में है।

स्कन्ध, देश, प्रदेश आदि भाग नहीं होते। काल का सबसे सूक्ष्म भाग समय है। जो समय उत्पन्न होता है वह तो चला जाता है और जो उत्पन्न होने वाला है वह अनुत्पन्न है अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ और जो वर्तमान है वह एक है। स्कन्ध समुदय से होता है, इसलिये काल का स्कन्ध नहीं। स्कन्ध के बिना देश की कल्पना भी चन्दन कुसुम की परिमल के समान है। प्रदेश का नाश नहीं होता, वह स्थायी रहता है। काल का आया हुआ समय चला जाता है, नष्ट हो जाता है अतः काल के प्रदेश भी नहीं। इसलिये काल का भेद केवल काल ही है।

पुद्गलास्तिकाय।[1]

यह मूर्त्तिमान रूपी द्रव्य है. अतः इन्द्रियों का विषय है। गलन मिलन इसका स्वभाव है। यह समूचे लोक में व्याप्त है। त्रिकालवर्ती है। इसके चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।

स्कन्ध।

स्कन्ध अनन्त हैं और भाँति-भाँति के हैं जैसे दो परमाणुओं का समुदय—द्वि-प्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं का समुदय स्कन्ध—त्रि-प्रदेशी-स्कन्ध एवं असंख्य, अनन्त, अनन्तानन्त परमाणुओं

१ पुद्गलास्तिकाय का विशेष विवरण बीसवें बोल में है।

का स्कन्ध क्रमशः असंख्य प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी और अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध है। स्कन्ध दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक स्कन्ध और वैभाविक स्कन्ध।

स्वाभाविक स्कन्ध—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इनके स्कन्ध स्वाभाविक हैं। इनका विभाग कदापि नहीं हो सकता।

वैभाविक स्कन्ध—पुद्गलों के स्कन्ध वैभाविक हैं। ये समुदित होते हैं और बिखर जाते हैं।

देश—कल्पित भाग।

प्रदेश—एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत उष्णः स्निग्ध रूक्ष—इनमें से दो विरोधी) वाला अविभाज्य अंश।

परमाणु—प्रदेश व परमाणु एक ही है परन्तु जबतक वह स्कन्ध के संलग्न रहता है तबतक प्रदेश और जब स्कन्ध से अलग हो जाता है तब उसे परमाणु कहते हैं—

"संयुक्तः प्रदेशः विविक्तः परमाणुः"

पुण्य तत्व।

पुण्य बंध के कारण नौ बताये गये हैं जैसे—

अन्न पुण्य। पानी पुण्य। स्थान पुण्य। शय्या पुण्य। वस्त्र पुण्य। मन पुण्य। वचन पुण्य। काय पुण्य। नमस्कार पुण्य।

पुण्य शुभ कर्म का उदय है। पहले बंधे हुये शुभ कर्म जब शुभ फल देते हैं तब वे पुण्य कहलाते हैं। पुण्य के जो नौ भेद किये गये हैं वे वास्तव में पुण्य तत्व के नहीं परन्तु पुण्य के कारण ही नव भागों में विभक्त किये गये हैं। कारण भी उपादान (आत्मीय) नहीं किन्तु निमित्त है।

प्रत्येक कार्य में उपादान, निमित्त एवं निर्वर्तक—इन तीन कारणों की आवश्यकता होती है। घड़े का उपादान कारण है मिट्टी, निमित्त कारण है चक्र सूत प्रमुख सामग्री और निर्वर्तक कारण है कुंभकार—कुम्हार। इसी प्रकार पुण्य का उपादान कारण है पुण्य के रूप में परिणत होने वाला पुद्गल समूह, निमित्त कारण है अन्न, पानी आदि पदार्थ और निर्वर्तक उत्पादक-कारण है शुभ योग की प्रवृत्ति और शुभ नाम कर्म का उदय। अन्न पुण्य का निमित्त कारण है। पानी पुण्य का निमित्त कारण है, वैसे ही स्थान, शय्या, पाट, बाजोट, वस्त्र आदि सब पुण्य के निमित्त कारण हैं।

पुण्य के नौ भेद मुनि को लक्ष्य कर किये गये हैं, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि मुनि को अन्न, पानी, वस्त्र, स्थान आदि जीवन-यात्रा-उपयोगी पदार्थों की आवश्यकता होती है, सोना, चाँदी, जेवर आदि की नहीं। अतः आवश्यकता अनुसार इनको दान देना, दान देने के सम्बन्ध में मन, वचन तथा काया की प्रवृत्ति शुद्ध रखना और साधु को नमस्कार करना—यही श्रावक जीवन का रहस्य है।

पुण्य की उत्पत्ति धार्मिक क्रिया के बिना हो नहीं सकती—धर्मा-विना-भावि पुण्यम् (धर्म के बिना नहीं हो सकने वाला)। आत्मा की मानसिक वाचिक व कायिक जो शुभ प्रवृत्ति होती है वह धार्मिक क्रिया है। इससे आत्मा विशुद्ध-पवित्र बनती है और इस विशुद्धि के साथ साथ शुभ कर्म का संचय होता है। ऐसा शुभ कर्म का संचय बन्ध द्रव्य पुण्य कहा जाता है। पूर्व संचित शुभ कर्म जब उदय में आता है, शुभ फल देता है तब वह पुण्य कहा जाता है—पुण्यं उदीयमानाः सत्कर्म पुद्गलाः।

साधारणतया उपचार से क्रिया को अर्थात् शुभ योग की प्रवृत्ति को भी पुण्य कह देते हैं किन्तु वास्तव मे क्रिया पुण्य का कारण है, पुण्य नहीं। पुण्य तो क्रिया जनित फल है। फल भी मुख्य नहीं किन्तु

प्रासंगिक, क्योंकि मुख्य फल तो निर्जरा—आत्मा की उज्ज्वलता—है। खेती का मुख्य फल धान होता है, पलाल नहीं। शुभ योग की प्रवृत्ति आत्मा की उज्ज्वलता के लिये करनी चाहिये, पुण्य के लिये नहीं।

प्रश्न—एक ही शुभ योग की प्रवृत्ति से निर्जरा और शुभ कर्म का संचय—ये दो काम कैसे हो सकेंगे ?

उत्तर—एक मुख्य फल के साथ-साथ आनुषंगिक फल अनेक होते ही हैं। धान के लिये की हुई खेती में भी धान के साथ-साथ अनेक प्रकार की प्राप्ति होती है। मुनि को जो अन्न देते हैं वह शुभ काय योग की प्रवृत्ति है और वह पुण्य का कारण है तो भी कारण का कार्य में उपचार करके उस अन्न देने की क्रिया को ही पुण्य कह देते हैं।

प्रश्न—धर्म और पुण्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर—साधारण भाषा में धर्म और पुण्य—इन दोनों शब्दों का अर्थ लोग एक ही कर बैठते हैं किन्तु तात्विक दृष्टि से धर्म और पुण्य में नख शिख मान का, आकाश पाताल का अन्तर है। जैन परिभाषा के अनुसार मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय एवं योग आश्रव का निरोध करना संवर धर्म है। मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति करना निर्जरा धर्म है। जिस समय शुभ योग की प्रवृत्ति होती है उस समय आत्मा के साथ

जिन शुभ पुद्गलों का सम्बन्ध होता है वह द्रव्य पुण्य या सत्कर्म का वंध कहा जाता है और जिस समय वे सम्बन्धित कर्म उदय में आकर आत्मा को फल देते हैं उस शुभ कर्म की उदीयमान अवस्था का नाम पुण्य है। धर्म उज्ज्वल आत्म परिणाम है और पुण्य पौद्गलिक है, भौतिक सुख का कारण है।

प्रश्न—अधर्म और पाप में क्या अन्तर है ?

उत्तर—मिथ्यात्व आदि चार आश्रव और अशुभ योग मय जो आत्म परिणाम है वह अधर्म है और इस आत्मीय अवस्था से जो अशुभ पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं, वह अशुभ कर्म का बन्ध है और यह बन्ध जब उदीयमान अवस्था को प्राप्त होता है तब वह पाप कहलाता है। अधर्म मलिन आत्म परिणाम है और पाप ज्ञान आदि आत्म गुणों को आवृत करने वाला तथा दुःख देने वाला पुद्गल समूह है।

प्रश्न—पुण्य की उत्पत्ति स्वतन्त्र है या नहीं ? धर्म के विना पुण्य का वन्ध होता है या नहीं ?

उत्तर—आत्मा की जितनी क्रिया होती है उसके दो भाग हैं—अशुभ एवं शुभ, इसके अतिरिक्त तीसरा कोई भाग नहीं। अशुभ क्रिया से पाप कर्म का वन्ध होता है और शुभ क्रिया से दो कार्य होते हैं—एक मुख्य दूसरा गौण। शुभ योग की प्रवृत्ति से मुख्यतया कर्म निर्जरा

होती है और उसके प्रासंगिक फल के रूप में पुण्य का बन्ध होता है। यह पुण्य बन्ध का स्वरूप है। अब इस विषय में ध्यान देने की यह बात है कि अशुभ प्रवृत्ति से तो पुण्य का बन्ध होता ही नहीं और जहाँ कहीं शुभ प्रवृत्ति होगी वहाँ निर्जरा अवश्य होगी। निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है, अतः वह धर्म है। इसके सिवाय कोई भी ऐसा स्थान नहीं रह जाता जहाँ कि धर्म के बिना पुण्य का बन्ध होता हो, यह भी निश्चित है कि शुभ या अशुभ प्रवृत्ति के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता। अतः धर्म के बिना पुण्य नहीं—यह बात सैद्धान्तिक एवं तार्किक उभय दृष्टि से संगत है।

प्रश्न—कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि मिथ्यात्वी धर्म नहीं कर सकता परन्तु पुण्य बाँधता है – इसका समाधान कैसे होगा ?

उत्तर—आत्मा का वह परिणाम धर्म ही है जो कि आत्मा को उज्ज्वल बनाता है। मिथ्यात्वी शुभ क्रिया करता है, उससे कर्म अलग होते हैं। कर्म अलग होने से आत्मा उज्ज्वल होती है, इसलिये उसकी शुभ क्रिया धर्म है। यदि मिथ्यात्वी के आत्मा की उज्ज्वलता न मानी जाय तो फिर आत्मा उज्ज्वल हुये बिना

मिथ्यात्वी मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वी कैसे बन सकता है ?

पाप तत्व ।

पाप अशुभ कर्म का उदय है। पहले बंधा हुआ अशुभ कर्म उदय में आकर जब अशुभ फल देता है तब वह पाप कहलाता है। पाप तत्व यानी पाप बन्ध के कारण १८ बतलाये गये हैं जैसे—

(१) प्राणातिपात-पाप, (२) मृपावाद पाप, (३) अदत्तादान पाप, (४) मैथुन पाप, (५) परिग्रह पाप (६) क्रोध पाप, (७) मान पाप, (८) माया पाप, (९) लोभ पाप, (१०) राग पाप, (११) द्वेष पाप, (१२) कलह पाप, (१३) अभ्याख्यान पाप, (१४) पैशुन्य पाप, (१५) परपरिवाद पाप, (१६) रति अरति पाप (१७) माया मृषा पाप (१८) मिथ्या दर्शन पाप।

ये भेद वास्तव में पाप तत्व के नहीं किन्तु जिन कारणों से पाप कर्म बन्धता है उन कारणों के अनुसार वध्यमान (बन्धे हुये) अवस्था की अपेक्षा से पाप को अठारह भागों में विभक्त किया है। तात्पर्य यह है कि प्राणों का वियोग करना आश्रव कहलाता है और प्राण वियोग करने से जो कर्म बंधता है वह प्राणातिपात पाप कहा जाता है, क्योंकि उस पुद्गल समूह का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने का हेतु— प्राण

वियोजन है। यदि आत्मा के द्वारा प्राण वियोजन न किया जाता, तो वह पुद्गल समूह भी आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकता। अतः उस क्रिया से जो कर्म बंधता है वह उसी क्रिया के नाम से पुकारा जाता है जैसे प्राणों का वियोग करने से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपक जाता है वह प्राणातिपात पाप कहलाता है। झूठ बोलने से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह मृषावाद पाप है। अदत्त का—नहीं दी हुई वस्तु का—आदान-ग्रहण करने यानी चोरी करने से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह अदत्तादान पाप है। अ—ब्रह्मचर्य सेवन से यानी स्त्री सहवास से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह मैथुन पाप है। परिग्रह रखने से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह परिग्रह पाप है। इसी प्रकार क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह क्रमशः क्रोध पाप, मान पाप, माया पाप और लोभ पाप कहलाता है। इसी प्रकार मनोज्ञ मनो-वांछित पदार्थों पर स्नेह राग की भावना से तथा अनिष्ट पदार्थों पर द्वेष की भावना से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह राग पाप और द्वेष पाप कहा जाता है। कलह करने से, अभ्याख्यान

यानी मिथ्यारोप (किसी के शिर पर झूठा दोष मढ़ देना) से, पैशुन्य - चुगली करने—से पर परिवाद — निन्दा करने—से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह क्रमशः कलह पाप, अभ्याख्यान पाप, पैशुन्य पाप और पर परिवाद पाप कहलाता है। रति (असंयम जीवन में रुचि) अरति (संयम जीवन में अरुचि) रखने से, माया मृषा (माया कपटाई सहित झूठ बोलना) से, मिथ्या दर्शन शल्य (विपरीत श्रद्धान रूपी शल्य) से जो पुद्गल समूह आत्मा के साथ चिपकता है वह रति-अरति पाप, माया मृषा पाप और मिथ्या दर्शन पाप कहा जाता है।

आश्रव तत्व।

आश्रव कर्म ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था है। आश्रव जीव की अवस्था है, अतः जीव है, इसके द्वारा जो कर्म पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे अजीव हैं। आश्रव के मुख्य तो पांच भेद हैं परन्तु आवान्तर भेद करने से २० हो जाते हैं यथा—

(१) मिथ्यात्व-आश्रव (२) अव्रत आश्रव (३) प्रमाद आश्रव (४) कपाय आश्रव (५) योग आश्रव (६) प्राणातिपात आश्रव (७) मृपावाद आश्रव (८) अदत्ता-दान आश्रव (९) मैथुन आश्रव (१०) परिग्रह आश्रव (११) श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१२) चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्ति

आश्रव (१३) घ्राणेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१४) रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१५) स्पर्शनेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव (१६) मन प्रवृत्ति आश्रव (१७) वचन प्रवृत्ति आश्रव (१८) काय प्रवृत्ति आश्रव (१६) भण्डोपकरण आश्रव (२०) शुचि कुशाग्र मात्र आश्रव।

मिथ्यात्व-आश्रव।

मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धान, तत्व ज्ञान के प्रति अरुचि।

तात्विक अरुचि होने का कारण है आत्मवर्त्ती अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ की विद्यमानता तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय का विपाकी उदय।

अव्रत आश्रव।

अव्रत—नहीं है व्रत-त्याग अर्थात् अत्याग भावना। पौद्गलिक सुखों के लिये व्यक्त या अव्यक्त पिपासा रखना अव्रत आश्रव है।

जे जे सावद्य काम त्यागा नहीं छै,
त्यांरी आशा बांछा रही लागी।
तिण जीव तणा परिणाम छै मैला,
अत्याग भाव अव्रत छै सागी रे॥

—भिक्षु स्वामी

प्रमाद आश्रव।

धर्म अर्थात् आत्म उद्धार की तरफ इच्छा न होना, अन-उत्साह-पन रखना प्रमाद आश्रव है।

'प्रमाद आश्रव जीव परिणाम छै मैला,
तिण सुं लागे रे निरन्तर पापो रे।[1]
—भिक्षु स्वामी

कषाय आश्रव।

आत्म प्रदेशों में तप्तपन रहना कषाय आश्रव है। मुख की लालिमा भृकुटी आदि जो दृश्यमान विकार है वह योग आश्रव है, कषाय आश्रव नहीं। कषाय आश्रव तो तप्त रूप में आत्मा की परिणति है।

---

१ प्रमाद आश्रव की व्याख्या श्री भिक्षु स्वामी की अलौकिक प्रतिभा की परिचायक है, क्योंकि प्रमाद आश्रव की व्याख्या प्रायः निन्दा विकथा आदि पांच मद के रूप में ही उपलब्ध होती है और इस परिभाषा से योग आश्रव तथा प्रमाद आश्रव मे कोई भेद ही नहीं रह जाता। अतः इन दोनों आश्रवों की भिन्न भिन्न व्याख्या करने की आवश्यकता थी और वह श्री भिक्षु स्वामी की लेखनी द्वारा पूर्ण हुई। प्रमाद आश्रव आत्म-प्रदेश-वर्ती अनुत्साह है, निद्रा आदि नहीं। निद्रा, विकथा मनो, वाक्, काय प्रमुख योगों के कार्य हैं। योग जनित कार्यों का सन्निवेश योग आश्रव मे ही हो जाता है, अन्यत्र नहीं। और भी इनकी भिन्नता स्पष्ट है जैसे निद्रा आदि नैरन्तरिक नहीं, किन्तु प्रमाद आश्रव नैरन्तरिक है, इसलिये पूज्य आचार्य देव ने लिखा है कि "तिण सुं लागे निरन्तर पापो रे।"

योग आश्रव ।

योग मनो वाक् काय रूप आत्मा का व्यापार है।
योग आश्रव के दो भेद हैं—शुभयोग आश्रव, अशुभ-
योग आश्रव ।

शुभयोग से निर्जरा होती है, इस अपेक्षा से वह शुभयोग आश्रव नहीं किन्तु वह शुभ कर्म के बंध का कारण भी है, इसलिये वह शुभयोग आश्रव है।

शुभयोग आश्रव क्यों ? यह प्रश्न कितना जटिल है यह तो इस विषय को अध्ययन करने वाले जानते ही हैं तथापि श्री मद् जयाचार्य रचित कई पद्यों के द्वारा यह विषय बहुत ही आसानी से समझा जा सकता है।

सोरठा—शुभ योगांने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा।
तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई सांभलो ॥
शुभ जोगां करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे।
कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी ॥
ते शुभ जोग करीज रे, पुण्य बंधे तिण कारणे।
आश्रव जास कहीज रे, वारु न्याय विचारिये ॥

शुभ योग से दो कार्य होते हैं—शुभ कर्म का बन्ध और अशुभ कर्म की निर्जरा। शुभ कर्म का बन्ध होता है, इससे शुभ योग आश्रव कहलाता है, कर्मों का क्षय होता है इससे शुभ योग निर्जरा कहलाता है। वस्तु स्थिति ही ऐसी है कि शुभ योग

अथवा शुभ अध्यवसाय के बिना निर्जरा भी नहीं हो सकती और पुण्य का बन्ध भी नहीं हो सकता।

आत्मा की प्रवृत्ति दो तरह से होती है एक बाह्य रूप से और दूसरी आभ्यन्तर रूप से। बाह्य रूप से जो प्रवृत्ति होती है उसे योग कहते हैं और आभ्यन्तर रूप से जो प्रवृत्ति होती है उसे अध्यवसाय कहते हैं। योग तथा अध्यवसाय ये दोनों दो दो प्रकार के होते हैं शुभ और अशुभ। इनकी अशुभ प्रवृत्ति से पाप कर्म बंधता है और आत्मा मलिन होती है तथा शुभ प्रवृत्ति से निर्जरा होती है आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य कर्म बन्धता है।

एक ही कारण से दो काम कैसे हो सकते हैं इसका शास्त्रीय न्याय यह है कि शुभ योग, मोहनीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम निष्पन्न-जन्य है और शुभ-नाम-कर्म का उदय निष्पन्न है। शुभ योग क्षय क्षयोपशम निष्पन्न है इसलिये शुभ योग से निर्जरा होती है और वह उदय निष्पन्न भी है इसलिये उससे शुभ कर्म बंधते हैं। अतः निर्जरा और पुण्य बन्ध का कारण व्यवहारिक दृष्टि से एक ही जान पड़ता है किन्तु तात्विक दृष्टि से निर्जरा का कारण शुभ योग का क्षायिक क्षायोपशमिक स्वभाव है और पुण्य बन्ध का कारण औदयिक स्वभाव है या यों कहा जा सकता है कि एक ही शुभ योग दो स्वभाव वाला है और वह अपने दो स्वभाव से दो काम करता है, एक स्वभाव से नहीं जैसे एक ही सूर्य अपने दो स्वभाव से दो काम करता है प्रकाश करता है

और गरमी बढ़ाता है। तेल, वत्ती और दियासलाई के योग से दीपक जलता है, उससे प्रकाश होता है और काजल भी बनता है। स्थूल दृष्टि से यही जाना जाता है कि दीपक के एक ही स्वभाव से प्रकाश होता है और काजल बनता है किन्तु वास्तव में जो तेजोमय अग्नि है उस कारण से प्रकाश होता है और तेल बत्ती जलते हैं उस कारण से कार्बन, कोयले का अंश जमा होकर काजल बनता है। गेहूं बोने से गेहूं निपजता है परन्तु साथ में तूड़ी भी होती है। शुभ योग रूपी गेहूं से निर्जरा रूपी गेहूं उपजता है परन्तु पुण्य रूपी तूड़ी से रहित नही उपज सकता, क्योंकि शुभ योग से वैसी निर्जरा कहीं भी नही होती है जहाँ कि नाम कर्म का उदय नहीं रहता है। इसलिये जहाँ शुभ योग से निर्जरा होती है वहाँ पुण्य अवश्य बंधता है।

इस विषय में एक बात और ध्यान रखने की है कि निर्जरा शुभ योग से होती है न कि शुभ योग आश्रव से। शुभ योग और शुभ योग आश्रव में क्या अन्तर है और ये नाम किस आधार पर किये हैं इनका समाधान तो ऊपर के वाक्यों में आ ही चुका है। इस विषय में एक शंका उपस्थित होती है कि शुभ योग से निर्जरा होती है और निर्जरा से मुक्ति होती है परन्तु शुभ योग के साथ साथ शुभ कर्मों का बन्ध भी तो चालू रहता है तब मुक्ति कैसे हो सकती है ? इसका समाधान इस प्रकार है— आत्मा कर्म से इतनी आवृत है कि एक साथ इसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती। क्रमशः प्रयत्न करते करते ज्यों-ज्यों निर्जरा का

बल बढ़ता जाता है त्यों-त्यों आत्मा विशुद्ध बनती जाती है आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध मुख्यतः कषाय एवं योग की सहायता से होता है, अर्थात् जब कषाय की प्रबलता होती है तभी कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक संख्या में चिपकते हैं अधिक काल तक रह सकते हैं और तीव्र फल देते हैं। जब कषाय की निर्बलता हो जाती है तब उनका बन्ध भी बलवान नहीं हो सकता। यहाँ पर इस चर्चा का प्रयोजन यही है कि शुभ योग मुक्ति का साधक भी है बाधक भी है।

सोरठा—छद्मस्थना शुभ योग रै, कर्म कटै छै तेह थी।
क्षयोपशम भाव प्रयोग रै, शिव साधक छै तेह सुं॥
छद्मस्थना शुभ योग रै, पुण्य बंधे छै तेह थी।
उदयभाव सुं प्रयोग रै, शिव बाधक इण कारणे॥

छद्मस्थ[1] के शुभ योग से निर्जरा होती है यह क्षयोपशम भाव है, अतः मुक्ति का साधक है और छद्मस्थ के शुभ योग से पुण्य बंधता है यह उदयभाव है, अतः मुक्ति का बाधक है। ईन्धन जितना आद्र (गीला) होता है उतना ही प्रकाश के साथ साथ धुंआ भी रहता है। ठीक इसी तरह जबतक आत्मा में कषाय एवं योग आश्रव प्रबल होता है तबतक कर्म भी प्रबल बंधता रहता है। जब कषाय का नाश हो जाता है तब अशुभ कर्म का बन्धना तो बिल्कुल

---

१ छद्मस्थ—जबतक केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक वह जीव छद्मस्थ कहलाता है।

ही रुक जाता है और जो शुभ कर्म बन्धता है वह भी इतनी कम स्थिति का बन्धता है कि पहले समय में बंधता है, दूसरे समय में उदय में आ जाता है और तीसरे समय में नष्ट हो जाता है। इसलिये आत्मा की मुक्ति होने में कोई भी बाधा नहीं।

मुक्त होने में दो वस्तुएँ बाधक हैं। एक तो कर्म का बंध होना दूसरा बंधे हुये कर्मों का क्षय नहीं होना। बारहवें गुण-स्थान तक चार आश्रव का तथा अशुभ योग आश्रव का तो क्षय हो जाता है एवं पाप कर्म का बन्ध होना तो उस अवस्था में रुक जाता है, परन्तु केवल शुभ कर्म का बन्ध रहता है वह भी अति अल्प स्थिति का—दो समय की स्थिति—होता है। चौद-हवें गुणस्थान में योग का भी सर्वथा निरोध हो जाता है। योग का निरोध होने से शुभ कर्म का बन्ध भी रुक जाता है। अव-शिष्ट कर्म क्षय हो जाते हैं एवं आत्मा मुक्त हो जाती है।

योग आश्रव स्वतन्त्र भी है और पूर्ववर्ती चार आश्रवों का बाह्य रूप में प्रदर्शन भी करता है।

प्राणातिपात आश्रव।

प्राणों का अतिपात, वियोजन करना, प्राणों का संहार करना, जीवों की हिंसा करना, प्राणातिपात आश्रव है।

मृषावाद आश्रव।

मृषा—झूठ, वाद—बोलना।

झूठ बोलना मृषावाद आश्रव है।

अ-दत्तादान आश्रव।

अ—नहीं, दत्त—दी हुई, आदान—ग्रहण करना। अर्थात् नहीं दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, चोरी करना अदत्तादान आश्रव है।

मैथुन आश्रव।

अब्रह्मचर्य सेवन करना, स्त्री सहवास करना मैथुन आश्रव है।

परिग्रह आश्रव।

धन धान्य मकान आदि रखना परिग्रह आश्रव है।

श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव।

श्रोत्रेन्द्रिय की प्रवृत्ति करना श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव है।

चक्षुरिन्द्रिय आश्रव।

चक्षुः इन्द्रिय की प्रवृत्ति करना चक्षुरिन्द्रिय आश्रव है।

घ्राणेन्द्रिय आश्रव।

घ्राण इन्द्रिय की प्रवृत्ति करना घ्राणेन्द्रिय आश्रव है।

रसनेन्द्रिय आश्रव।

रसन इन्द्रिय की प्रवृत्ति करना रसनेन्द्रिय आश्रव है।

स्पर्शनेन्द्रिय आश्रव।

स्पर्शन इन्द्रिय की प्रवृत्ति करना स्पर्शनेन्द्रिय आश्रव है।

मन आश्रव—मन की प्रवृत्ति करना मन आश्रव है।

वचन आश्रव—बचन की प्रवृत्ति करना बचन आश्रव है।

काय आश्रव—काय की प्रवृत्ति करना काय आश्रव है।

भण्डोपकरण आश्रव।

भण्ड, पात्र उपकरण वस्त्र आदि को यत्न पूर्वक न रखना भण्डोपकरण आश्रव है।

शुचि कुशाग्र आश्रव।

शुचि कुशाग्र मात्र अर्थात् किंचित् मात्र भी थोड़ी सी भी पाप युक्त प्रवृत्ति करना शुचि कुशाग्र आश्रव है।

मिथ्या विश्वास, भौतिक पदार्थों के प्रति लालसा, आत्म कल्याण के प्रति अनुत्साह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का अस्तित्व, मानसिक, वाचिक आदि विभिन्न प्रवृत्तियाँ—ये सब स्पष्ट रूप से दिखने वाले कार्य हैं और आश्रव इनके कारण है। कारण के बिना कोई कार्य हो नहीं सकता।

मुख्य रूप से आश्रव पांच ही हैं। प्राणातिपात आदि से लेकर जो पन्द्रह भेद किये गये हैं वे सब अशुभ योग आश्रव के हैं।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा अशुभ योग आश्रव से सिर्फ अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। शुभ योग की प्रवृत्ति से शुभ कर्म का बन्ध होता है इस शुभ कर्म के बंध की अपेक्षा से शुभ योग का आश्रव में प्रक्षेप होता है और वह शुभ योग आश्रव कहलाता है।

संवर तत्व।

कर्म का निरोध करने वाली, कर्म का प्रवेश रोकने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। संवर आश्रव का विरोधी तत्व है। आश्रव कर्म ग्राहक अवस्था है, संवर कर्म निरोधक अवस्था है। आश्रव की भेद संख्या वीस है, संवर की भी भेद-संख्या वीस है प्रत्येक आश्रव का एक एक संवर प्रतिपक्षी है जैसे मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी सम्यक्त्व संवर है। अव्रत आश्रव का प्रतिपक्षी व्रत संवर है। प्रमाद आश्रव का प्रतिपक्षी अप्रमाद संवर एवं कषाय आश्रव का प्रतिपक्षी अकषाय सवर है और योग आश्रव का प्रतिपक्षी अयोग संवर है। इसी प्रकार प्राणातिपात आदि १५ आश्रवों के अप्राणातिपात आदि १५ प्रतिपक्षी संवर हैं। आत्म—वृत्तियों का निरोध, संयम, प्रत्याख्यान संवर हैं। संवर तत्व के वीस भेद हैं यथा:—

(१) सम्यक्त्व संवर, (२) व्रत संवर (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर, (५) अयोग संवर, (६) प्राणातिपात विरमण संवर, (७) मृषावाद विरमण संवर (८) अदत्तादान विरमण संवर, (९) अब्रह्मचर्य विरमण संवर, (१०) परिग्रह विरमण संवर, (११) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह संवर, (१२) चक्षुरिन्द्रिय निग्रह संवर, (१३) घ्राणेन्द्रिय निग्रह संवर, (१४) रसनेन्द्रिय निग्रह संवर,

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह संवर, (१६) मनो निग्रह संवर, (१७) वचन निग्रह संवर, (१८) काय निग्रह संवर, (१९) भण्डोपकरण रखने में अयत्ना न करना, (२०) शुचि कुशाग्र मात्र दोष सेवन न करना।

सम्यक्त्व संवर।

विपरीत श्रद्धान का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी त्याग किये बिना सम्यक्त्व संवर नहीं हो सकता। अनन्तानुबन्धी चतुष्टय[1]—क्रोध, मान, माया, लोभ—के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, किन्तु संवर अ-प्रत्याख्यानीय चतुष्टय[2] के क्षयोपशम बिना हो ही नहीं सकता।

---

१ अनन्तानुबन्धी चतुष्टय—

अनन्तानुबन्धी—अनन्त है अनुबन्ध जिसका अर्थात् जिसका बध अत्यन्त गाढ़ रूप से है। चतुष्टय—चार (क्रोध, मान, माया, लोभ)। इन चारों की अत्यन्त प्रबलता रहती है।

२ अप्रत्याख्यानीय चतुष्टय—

अ – नहीं, प्रत्याख्यान – त्याग, चतुष्टय चार (क्रोध, मान, माया, लोभ) अर्थात् त्याग नहीं है इन चारों का जिसमें वह अप्रत्याख्यानीय चतुष्टय।

"नव ही पदार्थ श्रद्धै यथातथ्य तिण ने कहीजे सम्यक्त्व निधान। पछे त्याग करै ऊंधा सरधण तणा ते सम्यक्त्व संवर प्रधान"

—श्री भिक्षु स्वामी—

व्रत संवर।

व्यक्त व अव्यक्त आशा का परित्याग करना व्रत संवर है। अव्यक्त आशा का अर्थ है—जो पदार्थ न तो कभी काम मे लाए गए न कभी लाए जायेंगे और न कभी उनका नाम ही सुना गया तो भी उनकी आशा उनको भोगने की पिपासा बनी रहना। उनको देखते ही लालसा प्रबल हो जाती है। इसका कारण अन्तर विद्यमान अव्यक्त पिपासा ही है।

"समकित संवर ने व्रत सवर, ये तो हुवे छै कियाँ पच्चक्खाण"

—श्री भिक्षु स्वामी—

सम्यक्त्व संवर और व्रत संवर—ये दोनों संवर त्याग करने से होते हैं, अन्यथा नहीं।

अप्रमाद संवर।

आत्म-प्रदेश स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है।

अकषाय संवर।

आत्म-प्रदेश स्थित कषाय क्रोध मान माया लोभ का क्षय हो जाना अकषाय संवर है।

अयोग संवर।

योगों का निरोध होना अयोग संवर है।

अप्रमाद अकषाय अयोग – ये तीन संवर परित्याग करने से नहीं होते किन्तु तपस्या आदि साधनों के द्वारा आत्मिक मलिनता का क्षय होने से ही होते हैं।

"प्रमाद आश्रव ने कषाय योग आश्रव,
ये तो नही मिटे कियाँ पच्चखाण।
ये तो सहजे मिटे छै कर्म अलगा हुयाँ,
तिण री अंतरंग कीजो पहिचान॥"

— श्री भिक्षु स्वामी

सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग इन पांच संवर के भेदों के अतिरिक्त जो बाकी के १५ भेद हैं, वे व्रत संवर के विभेद हैं इन १५ भेदों में प्रत्याख्यान—त्याग की अपेक्षा रहती है। सावद्य योग का त्याग करने से ही ये संवर होते हैं।

प्रश्न—प्राणातिपात आदि पन्द्रह आश्रव योग आश्रव के भेद हैं तो फिर प्राणातिपात विरमण आदि १५ संवर अयोग संवर के भेद न हो कर व्रत संवर के भेद क्यों?

उत्तर— अव्रत आश्रव का कारण सावद्य योग की प्रवृत्ति है अर्थात् प्राणातिपात आदि १५ आश्रव हैं। प्राणातिपात

आदि १५ पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग नहीं—यह अव्रत आश्रव है और ये १५ आश्रव प्रवृत्ति रूप हैं। मन वचन और शरीर योग की असत् प्रवृत्ति से ही हिंसा आदि किये जाते हैं। प्रवृत्ति करना योग आश्रव का काम है अतएव ये सब योग आश्रव के अन्तर्गत हो जाते हैं। इन १५ आश्रवों का प्रत्याख्यान करने से अत्याग भावना रूप अव्रत आश्रव का निरोध हो जाता है, व्रत संवर हो जाता है, क्योंकि इन १५ प्रकार की पापकारी प्रवृत्तियों की खुलावट ही अव्रत आश्रव है और इनकी:निवृत्ति ही व्रत संवर है। अब प्रश्न यह रहा कि इनके प्रत्याख्यान से अयोग संवर क्यों नहीं होता ? इसका कारण यह है कि यौगिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। अयोग संवर इन दोनों का सर्वथा निरोध करने से होता है। अशुभ प्रवृत्तियों का आंशिक प्रत्याख्यान पांचवें गुणस्थान में और पूर्ण प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान में हो जाता है, लेकिन शुभ प्रवृत्ति तो तेरहवें गुणस्थान तक चालू रहती है उसका पूर्ण रूपेण निरोध तो मुक्त होने की पार्श्वर्त्ती दशा में चौदहवें गुणस्थान में—होता है। अतः प्राणातिपात आदि सावद्य प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान से प्रधानतया व्रत संवर ही होता है। योग पर उसका असर सिर्फ इतना ही होता है कि शुभ और अशुभ

कार्य क्षेत्रों में दौड़ने वाली योग रूप अस्थिरता चञ्चलता अशुभ कार्य क्षेत्र से हट कर शुभ कार्य क्षेत्र में ही प्रवृत्त रहती है, पर उसकी प्रवृत्ति रुकती नहीं। अत: सावद्य प्रवृत्ति को त्यागने से अयोग संवर नहीं होता। अपेक्षा-भेद से आंशिक रूप में अयोग संवर हो भी सकता है पर यह अयोग संवर का अंश कहलाता है, अयोग संवर नहीं।

निर्जरा तत्व।

शुभ योग की प्रवृत्ति[1] से होने वाली आत्मा की आंशिक (अपूर्ण) उज्ज्वलता को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा तत्व एक है तो भी कारणों को काय मान कर निर्जरा के बारह भेद किये गये हैं।

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता, तद् द्वादशानां तपसां विभेदात्।
हेतु प्रभेदादिह कार्य भेदः, स्वातंत्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात्॥

—शान्ति सुधारस भावना

भावार्थ—जो निर्जरा शास्त्रों में बारह प्रकार की कही गयी है वह छव प्रकार की आभ्यन्तर और छव प्रकार की वाह्य तपस्याओं के भेद से बारह प्रकार की बतलायी गयी है। क्यों कि कारण के भेद से ही कार्य का भेद होता है। जिस तरह मिट्टी से बने हुये

१ राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ हिंसा, असत्य, चौरी, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियों से इतर आत्मा की प्रवृत्ति शुभ प्रवृत्ति कहलाती है।

घड़े का उपादान (मूल) कारण मिट्टी होने से वह घट मिट्टी का कहा जाता है। उसी तरह सुवर्णादि धातुओं के भेद से उन उन धातुओं का घट ऐसा व्यवहार किया जाता है। वास्तव में तो कर्म रूपी उपाधि के क्षय हो जाने पर वह निर्जरा एक ही प्रकार की है।

काष्ठोपलाऽऽदि रूपाणां, निदानानां विभेदतः।
वह्निर्यथैक रूपोऽपि, पृथग्रूपो विवक्ष्यते॥
निर्जरा ऽपि द्वादशधा तपो भेदैस्तथोदिता।
कर्म निर्जरणात्मा तु सैकरूपैव वस्तुतः॥

—शान्ति सुधारस भावना

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही स्वरूप वाली अग्नि काठ पाषाण गोमय तथा तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही या देखी जाती है वैसे ही तपस्याओं के भेद से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गयी है परन्तु कर्मों को नष्ट करने वाली वह निर्जरा वास्तव में एक ही प्रकार की है।

निर्जरा के १२ भेद हैं—

(१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचरी (४) रस परित्याग (५) काया क्लेश (६) प्रतिसंलीनता (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) स्वाध्याय (११) ध्यान (१२) कायोत्सर्ग।

अनशन।

तीन व चार आहारों का त्याग करना, कम से कम एक दिन रात और बेसी से बेसी जितने दिनों तक हो सके, अनशन है।

ऊनोदरी।

जितनी मात्रा में भोजन करने की रुचि है उससे कम खाना, पेट को कुछ भूखा रखना ऊनोदरी निर्जरा है।

भिक्षाचरी।

वृत्ति ह्रास—अभिग्रह करना जैसे साधु अभिग्रह करता है कि इतने घरों से अधिक आज भिक्षा ग्रहण नहीं करूंगा। आज यदि भिक्षा में अमुक पदार्थ न मिला तो भोजन नहीं करूंगा।

रस परित्याग।

विगय दूध, दही, मक्खन आदि का परित्याग करना।

काया क्लेश।

अपने ही शरीरको, हिंसा ममत्व आदि से रहित, शुभ योग प्रवृत्ति से कष्ट पहुंचाना।

प्रतिसंलीनता।

अशुभ योग की प्रवृत्ति में काया का संकोच करना।

ये छव भेद वाह्य तपस्या के हैं। ये आत्म शुद्धि के वहिरङ्ग कारण है। सर्व सावारण की दृष्टि में यह तपस्या है, अथवा प्रायः वाह्य शरीर को तपाने वाली तपस्या है। अतः इसका नाम वाह्य तप है।

प्रायश्चित।

जो काम आचरण के योग्य नहीं है, वैसा काम हो जाने पर उसकी विशुद्धि के लिये यथोचित अनुष्ठान करना अर्थात् अनुचित कार्य से मलिन आत्मा की शुभ प्रवृत्ति के द्वारा विशुद्धि करना।

विनय।

देव, गुरु और धर्म की विनय करना, अर्थात् मानसिक वाचिक कायिक अभिमान का परित्याग करना।

वैयावृत्य।

देव, गुरु और धर्म की सेवा करना।

स्वाध्याय।

काल आदि को मर्यादा से आत्मोन्नति कारक अध्ययन करना।

ध्यान।

अशुभ प्रवृत्ति से हटा कर शुभ प्रवृत्ति में चित्त को एकाग्र करना।

कायोत्सर्ग।

काया की प्रवृत्ति, हलन चलन आदि क्रिया को छोड़ना।

ये छव भेद अन्तरङ्ग तपस्या के हैं। ये आत्म-शुद्धि के अन्तरङ्ग कारण है। यह तपस्या जन साधारण की अपेक्षा तत्वज्ञों की दृष्टि में महत्त्व की है। यह आत्मा की अन्तःकरण प्रवृत्तियों को तपाने वाली है अतः इसका नाम आभ्यन्तर तप है।

संवर का हेतु निरोध है, निवृत्ति है। निर्जरा का हेतु प्रवृत्ति है। संवर के साथ निर्जरा अवश्य होती है। निर्जरा बिना संवर के भी होती है। उपवास में आहार करने का जो त्याग किया जाता है वह संवर है। उपवास में शारीरिक कष्ट होता है, शुभ भावना होती है, शुभ प्रवृत्ति होती है। शुभ प्रवृत्ति से जो कर्म-निर्जरण होता है, उससे आत्मा उज्ज्वल होती है अतः यह निर्जरा है। यह निर्जरा संवर की अनुगामिनी है। एक व्यक्ति भोजन करने का त्याग किये बिना ही सिर्फ आत्म-शुद्धि के लिये भूखा रहता है, यह संवर रहित निर्जरा है। तात्पर्य इतना ही है कि निर्जरा शुभ प्रवृत्ति जन्य है चाहे वह संवर के साथ हो चाहे वह उसके बिना हो।

निर्जरा के दो प्रकार हैं—सकाम और अकाम। आत्म विशुद्धि के लक्ष्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम-निर्जरा है और आत्म-विशुद्धि के लक्ष्य के बिना की जाने वाली निर्जरा अकाम-निर्जरा है।

वंध तत्व ।

आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का दूध पानी की तरह मिल जाना, सम्बन्धित हो जाना, एकीभाव हो जाना वंध कहलाता है।

आत्मा के चारों तरफ पुद्गल फैले हुये हैं पर वे आत्मा की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति के विना उसके साथ घुल मिल नहीं सकते जैसे—तेल से भरे दीपक मे रहती हुई वत्ती भी तेल को नहीं खींच सकती पर ज्योंहीं उसे दियासलाई दिखायी जाती है त्योंहीं वह सिहर सिहर कर तेल खींचने लग जाती है वैसे ही आत्मा भी अपनी प्रवृत्ति के द्वारा कर्म-योग्य-पुद्गलों को खींच लेती है और ऐसे पुद्गल आत्मा के साथ सम्वन्ध कर लेते हैं। यही वंध है।

वंध चार प्रकार का होता है जैसे—

(१) प्रकृति वंध— कर्मों का स्वभाव; जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव ज्ञान को आच्छादित करने का है।

(२) स्थिति वंध—जिस समय आत्मा के साथ कर्मों का सम्वन्ध होता है उस समय से लेकर, वे कर्म कितने दिनों तक आत्मा के साथ चिमटे रहेंगे—इसका निश्चय होना यानी इन कर्मों की स्थिति कवतक की है—यह स्थिति वंध है।

(३) अनुभाग बंध—रस बंध—कर्मों का रस अर्थात् विपाक या फल देने की शक्ति तीव्र है या मन्द इसका निश्चय होना अनुभाग बंध है।

(४) प्रदेश बंध—बंधने वाले कर्म-पुद्गलों का परिमाण, उनका संचय इत्यादि का निश्चय होना प्रदेश बंध है।

बंध शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है।

प्रश्न—बंध और पुण्य पाप में क्या अन्तर है?

उत्तर—पुण्य पाप शुभ अशुभ कर्म की उदीयमान अवस्था है और बंध पुण्य पाप दोनों की बध्यमान अवस्था है।

"बंध उदय नहीं त्यां लग जीव रे, सुख दुख मूल न होयो।
बंध तो छता रूप लाग्यो रहे, फोड़ा न पाड़े कोयो॥"

जबतक कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ बंधे हुये, सत्ता रूप में विद्यमान रहते हैं तबतक आत्मा को सुख दुख नहीं होता। जब शुभ कर्म उदय में आते हैं, अर्थात् शुभ कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध विच्छेद होता है तब आत्मा को सुख मिलता है और यही पुण्य है। जब अशुभ कर्म उदय में आते हैं, अर्थात् अशुभ कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध विच्छेद होता है तब आत्मा को दुःख होता है और यही पाप है।

जबतक कर्म बंधे रहते हैं तबतक वह बंध है और जब उन बंधे हुये कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है तब शुभ फल को तो पुण्य और अशुभ फल को पाप कहते हैं।

मोक्ष तत्व—निर्वाण—मुक्ति।

कर्मों का सर्वथा क्षय होना ही मोक्ष है। अपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना निर्जरा और पूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना मोक्ष है। मुक्त आत्मायें जहाँ रहती है उस स्थान को भी उपचार से या समीपता से मोक्ष कह देते हैं किन्तु वह मोक्ष तत्व नहीं। मोक्ष तत्व से सिर्फ मुक्त आत्माओं का ही अर्थ ग्रहण होता है।

मोक्ष प्राप्त करने के उपाय, साधन या रास्ते जैन दर्शन में चार माने गये हैं। जैसे—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपस्या।

ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा

एव मार्ग इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वर दर्शिभिः ॥

अर्थात् प्रधान दर्शी जिनेन्द्र देवों ने ज्ञान दर्शन चारित्र और तप—इस मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन किया है।

सम्यक् ज्ञान—जिन पदार्थों का जैसा स्वरूप है उनको वैसा ही जानना।

सम्यक् दर्शन—तात्विक रुचि।

सम्यक् चारित्र—आश्रव का निरोध करना।

सम्यक् तपस्या—ऐसी तपस्या जिसमें किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।

ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते ।

चारित्रेण निगृहणाति, तपसा परिशुध्यति ॥

यह जीव ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से आने वाले कर्मों को रोकता है और तप से आत्म-विशुद्धि करता है।

हमारा सांसारिक जीवन संघर्षमय है कोलाहलमय है। पग पग पर दुःख और विपत्तियों से भरा है, परन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र और तप के द्वारा हम ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहाँ परम शान्ति है परम सुख है। इसे पाकर जीव कृतकृत्य हो जाता है। यही सुख की परम सीमा है। यही परम गति है। यही मुक्ति है, मोक्ष है, निर्वाण है।

कुछ लोग स्वर्ग को ही सुख की अवधि मान बैठते हैं। उनकी दृष्टि में स्वर्ग-सुख ही परम सुख है परन्तु इस सुख का भी नाश होता है, अतः जैन दर्शन इसे परम सुख नहीं मानता। देवताओं की आयु हमारी अपेक्षा बहुत लम्बी है फिर भी एक दिन उसका अन्त होता ही है। जिस पुण्य-बंध से स्वर्ग लोक मिलता है, उस का भोग द्वारा क्षय हो जाने पर, जीव स्वर्ग लोक से पतित हो कर पुनः हमारे ही लोक में जन्म लेता है। अतः पूर्ण सुख चाहने वाले स्वर्ग सुख को परम सुख नहीं मान सकते।

हम तो ऐसा सुख चाहते हैं जिसका कभी अन्त न हो, जिसमें दुःख की जरा-सी भी मिलावट न हो और जिससे बढ़कर

दूसरा कोई भी सुख न हो। ऐसा अनन्त सुख सिवाय मुक्ति के और कहीं नहीं मिल सकता।

कुछ लोगों की मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष 'महा प्रलय' तक संसार मे नहीं लौटते, अर्थात् उनको वह सुखमय स्थिति सिर्फ 'महा प्रलय' तक ही कायम रहती है। महाप्रलय के बाद जब सृष्टि पुनः उत्पन्न होती है तब मुक्त जीव भी पुनः संसार में लौट आते हैं। ऐसी मान्यता वाले यह युक्ति पेश करते हैं कि यदि मुक्त कभी वापिस न आवें तो एक दिन सब जीव मुक्त हो जायेंगे और यह संसार जीवों से खाली हो जावेगा। जब यह सृष्टि अनादि काल से चली आयी है तो अबतक सब जीवों को मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु अबतक संसार का अभाव नहीं हुआ इससे यही मालूम होता है कि महा प्रलय के बाद जब सृष्टि का पुन. निर्माण होता है तब वे मुक्त जीव पुनः जन्म लेकर संसार का क्रम चालू रखते हैं। इस मान्यता के अनुसार यदि मुक्ति की अवधि मान ली जाय तब तो स्वर्ग और मोक्ष में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। हमारी आयु को अपेक्षा देवताओं की आयु बहुत लम्बी है और देवताओं की आयु की अपेक्षा ऐसे मुक्त जीवों की आयु बहुत लम्बी है। इस हिसाब से तो मुक्त जीवों का सुख भी अवधि-सहित ठहर जाता है। एक न एक दिन उनके सुख की भी समाप्ति हो जाती है। ऐसी दशा में तो अनन्त सुख की कल्पना भी जीव के लिये स्वप्नवत् है। मृग-तृष्णा के समान है इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीव

अनन्त काल तक भटकता ही रहेगा उसका भटकना कभी बन्द न होगा। उसे कभी भी अनन्त सुख मिलने का नहीं।

जैन दर्शन के अनुसार अनन्त जीव मुक्त हो चुके हैं अनन्त जीव मुक्त होंगे। संसार में अनन्त जीव हैं और अनन्त जीवों की मुक्ति होने पर भी अनन्त जीव रह जावेंगे। संसार का अन्त कभी न होगा, वह तो अनादि और अनन्त है। गणित के विद्यार्थी को यदि पूछा जाय कि अनन्त की संख्या में से यदि अनन्त की बाकी निकाली जाय तो शेष कितने रहेंगे? तो जबाब मिलेगा—अनन्त ही शेष रह जायगा। फिर अनन्त जीवों वाला संसार खाली कैसे होगा?

अखिल विश्व के जीवों की संख्या से यदि मुक्त होने वाले जीवों की संख्या का मुकाबिला किया जाय, तो वह समुद्र के जल में बूंद के समान भी नहीं ठहरेगा। ऐसी हालत में यह शंका करना कि जीवों के मुक्त होने का क्रम बराबर जारी रहने एवं मुक्त जीवों का पुनः संसार में न लौटने पर संसारिक जीवों की संख्या एक दिन समाप्त हो जावेगी, ठीक वैसा ही है जैसे यह शंका करना कि एक चींटी के जल उलीचते रहने से समुद्र का जल एक दिन समाप्त हो जावेगा।

जैन सिद्धान्त के अनुसार सब कर्मों के सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिनके कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं वे मुक्त जीव कर्मों के अभाव में संसार में पुनः आ

ही कैसे सकते हैं ? यदि वे पुनः संसार मे आवें तो फिर कहना होगा कि वे मुक्त नहीं हैं।

दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नांकुरः।

कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

अर्थात् जो बीज अत्यन्त दग्ध हो चुका है, जल चुका है, राख हो चुका है वह कभी भी अङ्कुरित नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसका कर्म रूपी बीज नष्ट हो चुका है उसमें भव रूपी अङ्कुर कभी हो नहीं सकता।

मुख्यतया तत्व दो हैं - जीव और अजीव। किन्तु मोक्ष साधन के रहस्य को बतलाने के लिये इनके नौ भेद किये गये हैं। इन नौ भेदों में प्रथम भेद जीव का है, अन्तिम भेद मोक्ष का है और बीच के भेदों में मोक्ष के साधक व बाधक अवस्थाओं का वर्णन है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप चैतन्य है। 'आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट करना चाहती है, किन्तु बाधक उसे अपने स्वरूप में जाने मे बाधा डालता है, रोकता है और वह (बाधक) अचैतन्य स्वरूप वाला अजीव है। वह अचेतन्य, जड होने के कारण स्वयं तो बाधा नहीं दे सकता किन्तु आत्मा ही अपनी प्रवृत्ति के द्वारा उसे अपनाती है और वह आत्मा की अवस्था आश्रव है।' अपनाया हुआ अजीव, 'पुद्गल तत्व आत्मा के साथ घुल मिल कर उसके स्वरूप को दबाये रखता है वह अवस्था बंध है।' अपनाया

हुआ अजीव पुद्गल तत्व आत्मा के साथ नियमित काल तक ही रह सकता है, इसके बाद जाने के समय वह जीव को सुख दुःख का अनुभव कराता हुआ चला जाता है—इस अवस्था का नाम पुण्य या पाप है। जब जब इस नियमित काल की अवधि के पूर्व ही आत्मा उसे (कर्म-पुद्गल-समूह) अपनी शुभ प्रवृत्ति के द्वारा अलग कर देती है—तब यह अवस्था निर्जरा है। स्वरूप प्रगटन की उत्कट अभिलाषा से जब आत्मा उसे (कर्म) अपनाने की प्रवृत्ति को रोक देती है तब वह अवस्था संवर है। आत्मा उसे (कर्म पुद्गल) नहीं अपनायेगी और पहले अपनाये हुए को सर्वथा अलग कर देगी—यह अवस्था मोक्ष है।

जीव मूल तत्व है, अजीव उसका विरोधी तत्व है। बन्ध, पुण्य व पाप—तीनों जीव के द्वारा होने वाली अजीव की अवस्थायें हैं और आत्मा के स्वरूप प्रकटन में बाधक है। आश्रव आत्मा की अवस्था है और बाधक है। संवर निर्जरा आत्मा की अवस्था है और साधक है। मोक्ष आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

बोल पन्द्रहवाँ

आत्मा आठ—

(१) द्रव्य आत्मा, (२) कषाय आत्मा, (३) योग आत्मा, (४) उपयोग आत्मा, (५) ज्ञान आत्मा, (६) दर्शन आत्मा, (७) चारित्र आत्मा, (८) वीर्य आत्मा।

जीव की जितनी परिणतियाँ हैं, भिन्न भिन्न प्रकार की रूपान्तरित अवस्थायें हैं, उतनी ही आत्मायें हैं। इसलिये वे सब अप्रतिपाद्य हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत वोल में प्रधानतः आठ आत्माओं का ही प्रतिपादन किया गया है।

द्रव्य आत्मा।

द्रव्य आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं, उन असंख्यात प्रदेश का समुदय ही जीव है। ये असंख्य प्रदेश विभाजित नहीं किये जा सकते।

कषाय आत्मा।

जैन दर्शन में कषाय शब्द क्रोध, मान, माया, लोभ का बोध कराने वाला है। कषाय में जीव की जो परिणति है वही कषाय आत्मा है।

योग आत्मा।

मन, वचन, काय की प्रवृत्ति उसकी चंचलता ही योग है और उसमें जीव की परिणति ही योग आत्मा है।

उपयोग आत्मा।

उपयोग अर्थात् ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति में जो जीव की परिणति है वही उपयोग आत्मा है।

ज्ञान आत्मा ।

ज्ञान दीपक की भांति स्वयं प्रकाशित और इतर पदार्थों को भी प्रकाशित करने वाला है, उसमें, ज्ञान में जो जीव का परिणमन है वही ज्ञान आत्मा है ।

दर्शन आत्मा ।

जीव आदि तत्वों के प्रति यथार्थ व अयथार्थ श्रद्धान दर्शन आत्मा है ।

चारित्र आत्मा ।

कर्मों का निरोध करने वाला जीव का परिणमन चारित्र आत्मा है ।

वीर्य आत्मा ।

जीव का सामर्थ्य ही वीर्य आत्मा है ।

आत्मा जीव का पर्यायवाची शब्द है। द्रव्य आत्मा और जीव का एक ही अर्थ है। कषाय जीव का कर्म-कृत दोष है। योग जीव की प्रवृत्ति है। उपयोग जीव का लक्षण है। ज्ञान जीव का गुण है। दर्शन जीव की रुचि है। चारित्र जीव की निवृत्ति रूप अवस्था है। वीर्य जीव की शक्ति है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि द्रव्य आत्मा तो मूल जीव है और शेष आत्माओं में से कोई उसका लक्षण है, कोई गुण तो कोई दोष। जिस प्रकार एक मूल आत्मा की यहाँ सात मुख्य-मुख्य परिणतियाँ बतलायी गयी हैं उसी तरह उसका जितने प्रकार का परिणमन

होता है उतनी ही आत्मायें अर्थात् अवस्थायें हैं। सारांश यह हुआ कि जीव परिणामी नित्य है और उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं और वे असंख्य हैं। आत्मा शब्द उन उन अवस्थाओं का बोधक है।

आत्मा अमूर्त्त है। श्याम, पीत आदि वर्ण रहित है, रूप रहित है। अतः इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय ज्ञान का विषय केवल मूर्त्त द्रव्य ही है और इसी कारण से इन्द्रिय ज्ञान के पक्षपाती आत्मा का अस्तित्व भी नहीं मानते। वे कहते हैं इन्द्रिय ज्ञान से परे कोई वस्तु ही नहीं, किन्तु ध्यान देने से यह कथन सर्वथा असंगत मालूम देगा। ज्ञान की अपूर्णता मे वस्तु का अभाव मान लेना कहाँ की बुद्धिमानी है। सूक्ष्म यंत्रों की (Microscopes) सहायता से देखे जाने वाले कीटाणुओं का, उन यन्त्रों की अविद्यमानता में, अभाव कैसे मान लें? इन्द्रिय ज्ञान पौद्गलिक साधनों की अपेक्षा रखता है। साधन जितने प्रबल होते हैं, ज्ञान उतना ही स्पष्ट होता है, परन्तु केवल मूर्त्त द्रव्य का अमूर्त्त का नहीं। जिन पदार्थों को हम साधारणतया आँखों से नहीं देख सकते उनको यन्त्रों की सहायता से देख सकते हैं और जिनको यन्त्रों की सहायता से भी नहीं देख सकते उनको आत्मीय ज्ञान का अधिक विकास होने से देख सकेंगे। इसलिये इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होने के कारण ही आत्मा नहीं है यह बात किसी भी दृष्टि बिन्दु से युक्तियुक्त नहीं।

Senses cannot lead us beyond the superficial appearance of sense objects. In order to go deeper in the realm of the invisible, we invent instruments and with their help, we are able to penetrate a little further, but these instruments again have their limit. After using one kind of instrument, we become dissatisfied with the results and search for some other which may reveal more and more and thus we struggle on, discovering at each step how poor and helpless are the sense powers in the path of the knowledge of the absolute. At last we are driven to the conclusion that any instrument, no matter how fine, can never help us to realize that which is beyond the reach of sense perception, intellect and thought. So even if we could spend the whole of our time and energy into studying phenomena we shall never arrive at any satisfactory result or be able to see things as they are in reality. The knowledge of to day, gained by the help of certain instruments will be the ignorance of tomorrow, if we get better instruments The knowledge of last year is already the ignorance of present year, the knowledge of this century will be ignorance in the light of the discoveries of a new century.

अर्थात् इन्द्रियों से पदार्थों का सिर्फ मामूली वाहरी ज्ञान ही हो सकता है अत: हम पदार्थों का वारीकी से निरीक्षण करने के लिये यन्त्रों का आविष्कार करते हैं और कुछ दूर तक सफल भी होते हैं। लेकिन इनको कुछ दिनों तक व्यवहार करने के

पश्चात् इनमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता और हम पुनः नये ज्यादा शक्ति वाले यन्त्रों का आविष्कार करते हैं। इस प्रकार नये-नये आविष्कार करने पर भी हम महशूश करते हैं कि वास्तविक रहस्य का—पूर्णता—का पता लगाने में हम अब भी कितने असहाय हैं और अन्त में हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि हमारा यन्त्र चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो इन्द्रिय ज्ञान के परे की चीज हम जान ही नहीं सकते। इसलिये चाहे हम कितना ही समय या शक्ति क्यों न खर्च करें हम उन यन्त्रों से पदार्थों के असली स्वरूप का पता लगा ही नहीं सकते। इन यन्त्रों द्वारा प्राप्त आज का ज्ञान कल अज्ञान मे परिणत हो जावेगा, पिछले साल का ज्ञान आज अज्ञान सावित हो चुका है और इस शताब्दी का ज्ञान अगली शताब्दी में अज्ञान सावित होगा।

अनुमान के द्वारा भी आत्मा का अस्तित्व जाना जा सकता है। हम हवा को नहीं देख सकते फिर भी स्पर्श के द्वारा उसका बोध होता है इसी प्रकार हम आत्मा को नहीं देख सकते फिर भी अनुभव एवं ज्ञान करने की शक्ति से उसे जान सकते हैं। उदाहरणार्थ :—

In a dark room pictures are thrown on a screen by lantern slides The room is absolutely dark We are looking at the pictures. Suppose we open a window and allow the rays of the mid-day sun to fall upon the screen Would we be able to see those pictures? No Because the more powerful flood of light will

subdue the light of the lantern and the pictures. But although they are invisible to our eyes, we cannot deny their existence on the screen Similarly the pictures of the events of our previous lives upon the screen of subliminal self may be invisible to us at present but they exist there. Why are they invisible to us now? Because the more powerful light of sense consciousness has subdued them. If we close the windows and door of our senses from out side contact and darken the inner chamber of our self then by focussing the light of consciousness and concentrating the mental rays we shall be able to know and remember our past lives and all the events and experiences there of

सारांश—एक अंधेरे कमरे में पर्दे पर बाइस्कोप की तसवीरें दिखायी जा रही हैं। हम उन तसवीरों को देख रहे हैं। किसी ने उस कमरे की खिड़कियों एवं दरवाजों को खोल दिया। पर्दे पर अब सूर्य प्रकाश पड़ने लगा और तसवीरों का दीखना बन्द हो गया। तसवीरें अब भी पर्दे पर हैं परन्तु हम देख नहीं सकते। इस हालत में क्या हम पर्दे पर तसवीरों का अस्तित्व इन्कार कर सकते हैं? उत्तर—कदापि नहीं। इसी प्रकार हमारे पूर्व जन्म की घटनावलियाँ हमारी आत्मा के साथ सम्बन्ध किये हुये हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में जान नहीं सकते। फिर भी उनका अस्तित्व है। हमारे वर्तमान इन्द्रिय ज्ञान ने उन घटनावलियों का ज्ञान रोक रखा है। अतः यदि हम इन्द्रिय ज्ञान-रूपी दरवाजों और खिड़कियों को बन्द करके,

मानसिक एकाग्रता, आत्म चिन्तवन या ध्यान रूपी किरणों से जानने की चेष्टा करें तो अपने पूर्वजन्म की समस्त घटनावलियों समस्त अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पुनर्जन्म एवं आत्मा का अस्तित्व समझने में यह उदाहरण काफी उपयोगी है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमान शरीरे ॥

—भागवद गीता अ० २ श्लोक २०

आत्मा का न तो कभी जन्म ही हुआ और न कभी इसकी मृत्यु ही होगी। यह अनादि है, अनन्त है। अजन्म है, नित्य है, शाश्वत है। शरीर की मृत्यु होने पर भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि जो व्यक्ति जैसे काम करता है उसका फल भी वही भोगता है। कर्त्ता एक हो और भोक्ता कोई दूसरा ऐसा हो नहीं सकता। इस न्याय से इस लोक में इस जन्म में जिन कर्मों का फल भोगना बाकी रह जाता है उनको दूसरे भव में दूसरे जन्म में भोगने के लिये उस आत्मा को पुनर्जन्म धारण करना ही पड़ेगा। इस प्रकार यह संसार चक्र चालू रहता है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

— भागवद् गीता अ० २—१३

जीवात्मा की इस देह में जैसे बालकपन, जवानी और बृद्धावस्था होती है, वैसे ही दूसरे जन्म की भी प्राप्ति होती है। इसी शरीर में बालकपन से लेकर बृद्धावस्था तक हम नाना प्रकार के परिवर्तन देखते हैं। शरीर का बहुत अंशों में बदल जाने पर भी आत्मा नहीं बदलता। जो आत्मा बालपन में हमारे शरीर के अन्दर था वही बृद्धावस्था में भी है। यदि ऐसा न हो तब तो १०।२० वर्ष पहले की कोई भी घटना हमें याद ही न रहे। जिस प्रकार वर्तमान शरीर में, इतना परिवर्तन होने पर भी आत्मा नहीं बदलती उसी प्रकार मरने के बाद दूसरा शरीर मिलने पर भी यह नहीं बदलती। वास्तव में शरीरों का परिवर्तन होता रहता है आत्मा वही की वही रहती है।

We are dying at every moment. After every seven years it is said that our bodies completely renew all its constitutive elements, but still the form is preserved. Although every particle of our body is changed, still we continue to exist Our continuity is not broken we remember things and events that happened 14 or 21 years ago

सारांश - प्रत्येक क्षण में हमारी मृत्यु हो रही है। ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक सातवें वर्ष में हमारे शरीर के समस्त पदार्थ सम्पूर्ण रूप से बदल जाते हैं फिर भी हमारा अस्तित्व बीच ही में टूटने के बजाय कायम रहता है, क्योंकि हम १४ या २१ वर्ष पहले की घटनावलियों को याद रख सकते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि इस शरीर से भिन्न भी कोई ऐसी चीज जरूर है जो

हमारे अस्तित्व को सर्वदा कायम रखती है—यह आत्मा ही है।

कोई भी मनुष्य यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूंगा, अथवा मैं पहले नहीं था, परन्तु मनुष्य हर वक्त यही सोचता है कि मैं सदा से हूं और सदा रहूंगा। मनुष्य की इस स्वाभाविक धारणा को कोई हटा नहीं सकता।

Even if we hear millions of times—" there is no soul " still we cannot be entirely convinced that we shall cease to exist after death We cannot think of our annihilation We cannot believe that our individuality will be lost for ever, such solutions do not appeal to our reason They do not satisfy our minds, nor do they bring any consolation to our souls

अर्थात् यदि हम लाखों दफे भी यह सुनें कि—"आत्मा नहीं है आत्मा नहीं है तो भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि मृत्यु के-बाद हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। यह हम सोच ही नहीं सकते कि हमारा व्यक्तित्व सदा के लिये गायब हो जायगा। हमारी तर्क बुद्धि में यह बात नहीं जंचती तथा इससे न तो हमारे मन को ही सन्तोष होता है और न हमारी आत्मा को ही।

प्रश्न—आत्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश कैसे कर सकती है ?

उत्तर—सूक्ष्म शरीर—कार्मण शरीर के द्वारा।

प्रश्न—आत्मा हमें दीखती क्यों नहीं ?

उत्तर—वह अमूर्त है।

प्रश्न—बिना देखे हम आत्मा का अस्तित्व कैसे मान लें?

उत्तर—"नाऽभावोऽनीक्षणादपि"—नहीं दीखने मात्र से वस्तु का अभाव नहीं हो सकता।

प्रश्न—आत्मा का रूप नहीं, आकार नहीं, वजन नहीं तो फिर वह पदार्थ ही क्या?

उत्तर—रूप, आकार, वजन एक पदार्थ विशेष के निजी लक्षण हैं, सब पदार्थों के नहीं। पदार्थ का व्यापक लक्षण अर्थ-क्रिया कारित्व है। पदार्थ वही है जो प्रति क्षण अपनी क्रिया करता रहे। पदार्थ का दूसरा लक्षण सत् है। सत् का अर्थ है कि पदार्थ पूर्व पूर्ववर्ती अवस्थाओंको त्यागता हुआ उत्तर उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ अपने अस्तित्व को न त्यागे। आत्मा में पदार्थ के दोनों लक्षण घटित है। आत्मा का गुण चैतन्य है। आत्मा में जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। आत्मा बाल्य युवा वृद्धत्व आदि अवस्थाओं की एवं पशु मनुष्य आदि शरीरों का अतिक्रमण करती हुई भी चैतन्य स्वरूप को अक्षुण रख सकती है। अतः आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है।

"शरीर ग्रह रूपस्य चेतसः सम्भवो यदा जन्मादौ देहिनां दृष्टः किं न जन्मान्तरा गतिः"—तत्काल उत्पन्न कृमि आदि जीवों के भी जन्म की आदि में ही शरीर का ममत्व देखा जाता है। यह ममत्व पूर्वाभ्यास के बिना नहीं हो सकता। यदि पूर्व भव में

शरीर के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ा ही नहीं तो फिर उसके बचाव की उसे क्यों प्रेरणा मिलती है और क्यों उसे सुरक्षित रखने का मोह होता है ? यह मोह किसी कारण विशेष से है, निष्कारण नहीं। कारण वही पूर्व जन्म के कर्म और संस्कार है।

"यः कर्त्ता कर्म भेदाना भोक्ता कर्म फलस्य च, संसर्ता परि निर्वाता सह्यात्मानान्य लक्षणः"—जैन दर्शन के अनुसार आत्मा कर्मों की कर्त्ता है, कर्म फल भोक्ता है। संसार में परिभ्रमण कराने वाली और मुक्ति में ले जाने वाली भी आत्मा ही है।

आत्मा नहीं है इसका कोई भी प्रमाण युक्ति संगत नहीं। आत्मा है इसका सबसे बलवान प्रमाण जड विरोधी चैतन्य है। चैतन्य चेतन पदार्थ का ही गुण है। जड पदार्थ उसका उपादान कारण हो नहीं सकता।

बोल सोलहवाँ

दण्डक चौबीस—

नरक गति - (१) सात नारक का एक दण्डक

तिर्यञ्च गति - ६ दण्डक: (२) पृथ्वीकाय (३) अप् काय (४) तेजस्काय (५) वायु काय (६) वनस्पति काय (७) द्वीन्द्रिय (८) त्रीन्द्रिय (९) चतुरिन्द्रिय (१०) तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय।

मनुष्य गति - (११) मनुष्य पंचेन्द्रिय।

देव गति →
१३ दण्डक

(१२) असुर कुमार (१३) नाग कुमार (१४) विदूयुत्कुमार (१५) सुपर्ण कुमार (१६) अग्नि कुमार (१७) वात कुमार (१८) स्तनित कुमार (१९) उदधि कुमार (२०) द्वीप कुमार (२१) दिग् कुमार।

(२२) व्यन्तर

(२३) ज्योतिष्क

(२४) वैमानिक।

जीव अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध करता है और पुनः अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये चार गतियों में चक्कर लगाया करता है। फल या दण्ड भोगने के स्थानों को इस बोल में २४ भागों में विभक्त करके उन स्थानों का नाम दण्डक रख दिया गया है।

नरक गति का दण्डक एक, तिर्यञ्च गति के नौ, मनुष्य गति का एक और देवगति के तेरह दण्डक माने गये हैं।

नरक गति।

नारकों के निवास स्थान की भूमियाँ नरक भूमि कहलाती है। ये अधोलोक में हैं। ऐसी भूमियाँ सात हैं। ये सातों भूमियाँ एक श्रेणी में न हो कर एक दूसरे के नीचे हैं, पर बिलकुल सटी हुई नहीं। एक दूसरे के बीच में बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर में बीच की

जगह मे घनोदधि, घनवात तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे नीचे है।

पहली नरक भूमि रत्न प्रधान होने से रत्न प्रभा कह- लाती है। दूसरी शर्करा—कंकड़ प्रधान है अतः शर्करा प्रभा कहलाती है। तीसरी वालुका - रेती की मुख्यता से वालुका प्रभा, चौथी पङ्क - कीचड़ की अधिकता से पङ्क प्रभा, पांचवीं धूम धुआं को अधिकता से धूम प्रभा, छठी तमः - अन्धेरे की विशेषता से तमः प्रभा और सातमी घने अन्धकार की प्रचुरता से महातमः प्रभा कहलाती है।

पहली नरक भूमि से दूसरी और दूसरी से तीसरी इसी तरह सातहीं भूमि तक के नरक अशुभ अशुभतर और अशुभतम रचना वाले हैं। अधिक अधिक अप- वित्र और वीभत्स है।

नरक में सरदी गरमी का तो भयङ्कर दुःख है ही, भूख प्यास का दुःख और भी भयंकर है। भूख का दुःख इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सब कुछ भस्म कर जाने पर भी शान्ति नहीं होती परन्तु भूख की ज्वाला और भी तेज हो जाती है। कितना ही जल क्यों न पी लिया जाय, प्यास वुझती ही नहीं। इस दुःख के उपरान्त वड़ा भारी दुःख तो उनको, आपस के वैर और मारपीट से होता है। जैसे सांप और नेवला

जन्म शत्रु है वैसे ही नारक जीव जन्म शत्रु है। इस लिये एक दुसरे को देख कर कुत्तों की तरह आपस में लड़ते हैं, काटते हैं और क्रोध से जलते हैं।

प्रथम तीन नरक भूमियों में परमाधार्मिक रहते हैं। परमाधार्मिक एक प्रकार से असुर देव हैं जो बहुत क्रूर स्वभाव वाले और पाप-रत होते हैं। ये निर्दय और कुतूहली होते हैं। इन्हें दूसरों को सताने में ही आनन्द मिलता है। वे नारक जीवों को आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की तरह लड़ाते हैं और उनको लड़ते देखकर खुशी मनाते हैं। यद्यपि ये परमाधार्मिक एक प्रकार के देव हैं, उन्हें अनेक सुख साधन प्राप्त हैं तथापि पूर्व जन्म कृत तीव्र दोषों के कारण उन्हें दूसरों को सताने में ही प्रसन्नता होती है।

विचारे नारक जीवों को नरक स्थान का दण्ड भोगना ही पड़ता है।

रत्नप्रभा को छोड़कर बाकी की छव नरक भूमियों में न तो द्वीप, समुद्र व पर्वत सरोवर ही है, न गांव, शहर आदि ही है, न वृक्ष लता आदि वादर वनस्पति काय है, न द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यञ्च है, न मनुष्य है और न किसी प्रकार के देव ही हैं। रत्नप्रभा के सिवाय शेष छत्र नरक स्थानों में सिर्फ नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। इस

सामान्य नियम का अपवाद भी है— उन नरक स्थानों में कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च का होना भी सम्भव है। मनुष्य की संभावना तो इस अपेक्षा से है कि केवली समुद्घात करने वाला मनुष्य सर्व लोक व्यापी होने से उन नरक स्थानों में भी आत्म-प्रदेश फैलाता है। इसके सिवाय वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्य की भी उन स्थानों तक पहुंच है। तिर्यञ्चों की पहुंच भी उन भूमियों तक है परन्तु यह सिर्फ वैक्रिय लब्धि की अपेक्षा से ही माना गया है। देवों की पहुंच के विषय में यह बात है कि कुछ देव कभी-कभी अपने पूर्व जन्म के मित्र नारकों के पास उन्हें दुख से मुक्त करने के उद्देश्य से वहाँ जाया करते हैं।

सात नारक स्थानों का दण्डक एक ही माना गया है।

तिर्यञ्च गति।

तिर्यञ्च गति के दण्डक स्थान ९ माने गये हैं।

प्रश्न—तिर्यञ्च कौन है?

उत्तर - देव नारक और मनुष्य को छोड़कर बाकी के सभी संसारी जीव तिर्यञ्च कहे जाते हैं। देव नारक और मनुष्य सिर्फ पंचेन्द्रिय होते हैं पर तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सब प्रकार के जीव आ जाते हैं।

देव नारक और मनुष्य जैसे लोक के खास-खास भागों में ही पाये जाते हैं, वैसे तिर्यञ्च नहीं पाये जाते। तिर्यञ्च का स्थान लोक के संसार के सब भागों में हैं। लोक का कोई भी भाग ऐसा नहीं जिसमें तिर्यञ्च न हो।

तिर्यञ्च के ६ भेद किये जा सकते हैं और प्रत्येक भाग का एक एक दण्डक होने से तिर्यञ्च गति में ६ दण्डक हो जाते हैं - यथा —

(१) पृथ्वी काय, (२) अप् काय, (३) तेजस्काय, (४) वायु काय, (५) वनस्पति काय, (६) द्वीन्द्रिय, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, (६) तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय।

मनुष्य गति।

मनुष्य पंचेन्द्रिय का सिर्फ एक दण्डक माना गया है।

देव गति।

देवों की चार जातियाँ की गयी हैं यथा—

(१) भवनपति, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क, (४) वैमानिक।

दण्डकों के हिसाब से देवगति में १३ दण्डक माने गये हैं जिनमें दश दण्डक तो दश प्रकार के भवनपति देवों के हैं और बाकी के तीन दण्डक क्रमशः व्यन्तर, ज्योतिष्क ओर वैमानिक देवों के माने गये हैं।

भवनपति ।

इस जाति के देवों के दश भेद किये गये हैं और प्रत्येक भेद का एक एक दण्डक माना गया है।

(१) असुर कुमार, (२) नाग कुमार, (३) विद्युत् कुमार (३) सुपर्ण कुमार, (५) अग्नि कुमार (६) वात कुमार (७) स्तनित कुमार, (८) उदधि कुमार, (९) द्वीप कुमार, (१०) दिग् कुमार।

ये दशों प्रकार के भवनपति जम्बूद्वीप स्थित सुमेरु पर्वत के नीचे उसके दक्षिण और उत्तर भाग मे तिरछे अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन तक रहते हैं। असुर कुमार अधिकतर आवासों में और कभी भवनों में वसते हैं। आवास बड़े मण्डप जैसे होते हैं और भवन नगर सदृश।

सभी भवनपति कुमार इसलिये कहे जाते हैं कि वे देखने में मनोहर तथा सुकुमार हैं उनकी गति चाल मृदु व मधुर है तथा वे क्रीड़ाशील हैं।

व्यन्तर ।

सभी व्यन्तर देव मध्य लोक में वसते हैं। वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न जगह जाया करते हैं। कुछ देव तो मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। ये विविध प्रकार के पहाड़ और गुफाओं के अन्तरों में तथा वनों के अन्तरों

में वसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। व्यन्तर देव आठ प्रकार के माने गये हैं—

(१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गान्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच।

इन आठ प्रकार के व्यन्तरों के सब अलग अलग चिह्न होते हैं जो उनके आभूषणों आदि में होते हैं। इनके चिह्न प्रायः वृक्ष जाति के होते हैं।

ज्योतिष्क।

प्रकाशमान विमान में रहने के कारण सूर्य, चन्द्र, तारा आदि ज्योतिष्क कहलाते हैं।

मनुष्य लोक में जो ज्योतिष्क हैं वे सदा भ्रमण किया करते हैं। लोक मर्यादा के स्वभाव से ज्योतिष्क विमान सदा स्वयं फिरते रहते हैं।

मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास आदि काल व्यवहार सिर्फ मनुष्य लोक में ही होता है उसके बाहर नहीं। मनुष्य लोक के बाहर अगर कोई काल व्यवहार करने वाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो वह मनुष्य लोक के प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही करेगा। काल व्यवहार सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिष्कों की गति पर ही निर्भर करता है। सिर्फ मनुष्य लोक के ज्योतिष्क ही गति किया करते हैं। अन्य ज्योतिष्क गतिक्रिया नहीं करते। काल का

विभाग ज्योतिष्कों की विशिष्ट गति के आधार पर ही किया जाता है। दिन रात पक्ष आदि जो स्थूल काल विभाग है वे सूर्य आदि की नियत गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे जाने जा सकते हैं। समय आवलिका आदि सूक्ष्म काल विभाग उससे नहीं जाने जा सकते। किसी एक स्थान में सूर्य-उदय से लेकर सूर्य-अस्त के बीच के समय को दिन कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य-अस्त से सूर्य-उदय तक के काल को रात कहते हैं। दिन और रात का तीसवाँ भाग मुहूर्त्त है। पन्द्रह दिन-रात का पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष, पाँच वर्ष का एक युग माना गया है। यह सब काल विभाग सूर्य की गति पर निर्भर करता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमान काल, जो होने वाली है वह भविष्यत् काल और जो हो चुकी है वह भूतकाल है। जो काल गिनती में आ सकता है वह संख्येय, जो गिनती में नहीं आ सकता, सिर्फ उपमा के द्वारा जाना जा सकता है वह असंख्येय जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि और जिस काल का अन्त ही नहीं है वह अनन्त कहा जाता

मनुष्य लोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं, क्योंकि उनके विमान स्वभाव से ही एक जगह कायम रहते हैं, इधर उधर भ्रमण नहीं करते उनकी लेश्या और उनका प्रकाश भी एक समान रहता है।

समस्त ज्योतिष्कों का एक दण्डक माना गया है।

वैमानिक।

इसका नाम पारिभाषिक मात्र है क्योंकि विमान में चलने वाले तो और भी अनेक देव हैं। वैमानिक देव एक दूसरे के ऊपर ऊपर रहते हैं, तिरछे व एक स्थान में नहीं। इनके कल्पोपपन्न और कल्पातीत दो भेद हैं। जो देव कल्प में रहते हैं अर्थात् जिन देवों में स्वामी सेवक का भेद भाव है वे कल्पोपपन्न और जो कल्प के ऊपर रहते हैं अर्थात् जिनमें कोई भेद भाव नहीं, सब समान हैं, वे कल्पातीत है। कल्पोपपन्न देव तो किसी न किसी निमित्त से मनुष्य लोक में जा सकते हैं परन्तु कल्पातीत अपने स्थान को छोड़ कर कहीं नहीं जाते।

कल्पोपपन्न।

कल्प—स्वर्ग—देवलोक के बारह भेद हैं—

(१) सौधर्म (२) ऐशान (३) सानत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक (७) महाशुक्र

(८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण (१२) अच्युत।

लौकान्तिक देव—ये देव ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्ग के चारों ओर दिशाओं, विदिशाओं में रहते हैं। दूसरी जगह कहीं नहीं रहते। ये विषय-रति से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं तथा आपस में छोटे बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र हैं। ये तीर्थङ्कर के गृह-त्याग के समय उनके सामने उपस्थित होकर "बुज्झह बुज्झह" शब्द द्वारा प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते हैं। ये देव अपने स्थान से च्युत होकर मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष पाते हैं।

कल्पातीत।

ये देव सभी इन्द्रवत् हैं अतः अहमिन्द्र कहलाते हैं। उपरोक्त बारह स्वर्गों के ऊपर नव ग्रैवेयक देवों के विमान हैं। जैन सिद्धान्त लोक को पुरुष के आकार का मानता है और ये नव विमान इस पुरुष के ग्रीवा—गले के भाग में होने के कारण नवग्रैवेयक कहलाते हैं। इन नौ विमानों के अतिरिक्त पांच विमान और हैं जो एक दूसरे के ऊपर ऊपर हैं जैसे (१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपरा-

जित (५) सर्वार्थ सिद्ध। ये विमान सब से उत्तर प्रधान होने के कारण अनुत्तर कहलाते हैं।

इनमें विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित—इन चार विमानों में जो देव रहते हैं वे द्वि-चरम होते हैं। अर्थात् वे अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है—चार अनुत्तर विमान से च्युत होने के बाद मनुष्य जन्म, उस जन्म के बाद अनुत्तर विमान में देव-जन्म, वहाँ से फिर मनुष्य जन्म और उसी जन्म में मोक्ष। परन्तु सर्वार्थ सिद्ध विमान में रहने वाले देव सिर्फ एक ही बार मनुष्य जन्म लेते हैं। वे उस विमान से च्युत होकर मनुष्य जन्म धारण करते हैं और उसी जन्म में मोक्ष लाभ भी करते हैं। अनुत्तर-विमान-देवों के सिवाय अन्य सब प्रकार के देवों के लिये कोई नियम नहीं है क्योंकि कई तो एक ही बार मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष जाते हैं, कई दो बार, कई तीन बार, कई चार बार और कई उससे भी अधिक बार जन्म धारण करते हैं।

कल्पोपपन्न देवों की जितनी भी जातियाँ हैं उन सब में स्वामी सेवक छोटे बड़े का भेद भाव है। जैसे—

(१) इन्द्र—सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी।

(२) सामानिक—ये आयु आदि में इन्द्र के समान हैं। मंत्री, पिता, गुरु आदि की तरह ये पूज्य होते हैं परन्तु इनमें इन्द्रत्व नहीं होता।

(३) त्रायस्त्रिंश—ये मंत्री या पुरोहित का काम करते हैं।

(४) पारिषद्य—ये मित्र का काम करते हैं।

(५) आत्म रक्षक—ये शस्त्र धारण किये हुए आत्म रक्षक Body Guard का काम करते हैं।

(६) लोक पाल—ये सीमा की सरहद की रक्षा करते हैं।

(७) अनीक—ये सैनिक या सेनापति का काम करते हैं।

(८) प्रकीर्णक—ये नगरवासी या देशवासी के समान हैं।

(९) आभियोग्य—ये दास, सेवक या नौकर के बराबर होते हैं।

(१०) किल्विषक—ये अन्त्यज—अछूत के समान होते हैं।

कल्पोपपन्न देवों की चार जातियों में ये दश प्रकार के भेद भाव पाये जाते हैं परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्कों में सिर्फ आठ प्रकार के भेद भाव पाये जाते हैं त्रायस्त्रिंश तथा लोक पाल नहीं होते।

भवनपति व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे स्वर्ग तक के वैमानिक देव मनुष्य की तरह शरीर से काम-सुख का अनुभव करके प्रसन्नता लाभ करते हैं। तीसरे स्वर्ग से ऊपर के देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण-शरीर-स्पर्श द्वारा काम-सुख नहीं भोगते किन्तु अन्य अन्य प्रकार से विषय-सुख का अनुभव करते हैं। तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव देवियों के स्पर्श मात्र से काम-तृष्णा की शान्ति कर लेते हैं और सुख का अनुभव करते हैं। पांचवें और छट्ठे स्वर्ग के देव, देवियों के सुन्दर सुसज्जित रूप को देख कर ही विषय-सुख का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की काम-वासना देवियों के विविध शब्द-मात्र को सुनने से शान्त हो जाती है। नववें, दशवें, इग्या-रहवें और बारहवें—इन चार स्वर्ग के देवों को विषय-तृप्ति सिर्फ देवियों के चिन्तन मात्र से ही हो जाती है।

देवियां सिर्फ दूसरे स्वर्ग तक ही रहती हैं ऊपर नहीं। वे जब तीसरे आदि ऊपर के स्वर्ग में रहने वाले देवों को विषय सुख के लिये उत्सुक-देखती हैं तब वे उनकी वासना शान्त करने के लिये ऊपर चली जाती हैं।

वारहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव हैं वे शान्त होते हैं। काम-लालसा से रहित होते हैं। उनको देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा काम सुख भोगने की इच्छा नहीं रहती। ये अन्य देवों की अपेक्षा अधिक संतुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। ये सन्तोष-जन्य परम सुख में तल्लीन रहते हैं।

नीचे नीचे देवों से ऊपर ऊपर के देव इन सात बातों में अधिक अधिक होते हैं—

(१) स्थिति उमर।

(२) प्रभाव।

(३) सुख—इन्द्रिय जन्य सुख।

(४) द्युति—शरीर वस्त्र, आभरण आदि की दीप्ति द्युति कहलाती है।

(५) लेश्या की विशुद्धि।

(६) इन्द्रिय विषय—दूर से विषयों को ग्रहण करने का इन्द्रियों का सामर्थ्य।

(७) अवधि ज्ञान का सामर्थ्य।

नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर के देवों में निम्नोक्त चार बातें कम कम पायी जाती हैं जैसे—

(१) गति—गमन-क्रिया की शक्ति।

(२) देह का परिमाण।

(३) परिग्रह—धन सम्पत्ति, विमान आदि।

(४) अभिमान—अहङ्कार की मात्रा।

उपरोक्त विवरण के सिवाय देवों के सम्बन्ध में उच्छ्वास, आहार, वेदना, उत्पत्ति स्थान, अनुभाव आदि विषयों की जानकारी भी प्राप्त करने योग्य हैं। उत्सुक पाठकों को इस विषय में उपलब्ध ग्रन्थों का कम से कम अध्ययन तो जरूर करना चाहिये।

इस बोल में विषयान्तर होने पर भी नारक और देवों सम्बन्धी जैन मान्यता का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गयी है।

बोल सतरहवाँ

लेश्या छव—

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठाय, नामाइं तु जह क्कमं ॥

—उत्तराध्ययन अ० ३४

कृष्णा नीला च कपोती च, तेजः पद्मा तथैव च।
शुक्ल लेश्या च षष्टी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥

छव लेश्याओं के नाम अनुक्रम से इस प्रकार है—

(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजः, (५) पद्म, (६) शुक्ल।

जीव के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहते हैं। कर्म युक्त

आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। आत्मा अपनी कर्म-वर्गणा के अनुरूप पुद्गल ग्रहण करती है और उन पुद्गलों के अनुरूप ही आत्मा की विचार धारा हो जाती है।

यद्यपि आत्मा का साधारण स्वरूप स्फटिक के समान स्वच्छ है तो भी कर्म-पुद्गल से आवृत्त होने के कारण उसका स्वरूप विकृत रहता है और उस कर्म-जन्य विकृति की न्यूनता व अधिकता के आधार पर आत्मा के परिणाम या विचार भी भले बुरे होते रहते हैं। विचारधारा की शुद्धि एवं अशुद्धि में अनन्त गुण तरतम भाव रहता है। पुद्गल जनित इस तरतम भाव को व्यक्त करने के लिये इसे संक्षेप में छव भागों में बांट दिया गया है, जिनको जैन परिभापा में लेश्या कहते हैं।

आत्मा के जो विचार हैं उनको भाव लेश्या कहते हैं और जिन पुद्गलों के द्वारा आत्मा के विचार बदलते रहते हैं उन पुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहते हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्य-लेश्याओं के आधार पर ही रखे गये हैं।

कृष्ण-लेश्या।

काजल के समान कृष्ण और नीम से अनन्त गुण कटु पुद्गल के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है वह कृष्ण लेश्या है। निम्नोक्त लक्षणों से यह जाना जाता है— पांच आश्रव—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह—में आत्मा की प्रवृत्ति करना। मानसिक,

वाचिक व कायिक विचारों में असंयम रखना, बिना विचारे काम करना, क्रूरता का काम करना—इत्यादि विचार कृष्ण लेश्या के हैं।

अति रौद्रः सदा क्रोधी, मत्सरी धर्म वर्जितः।
निर्दयो वैर संयुक्तः कृष्ण लेश्याधिको नरः॥

नील लेश्या।

नीलम के समान नीले और सौंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह नील लेश्या है। इसके लक्षण निम्न-लिखित हैं—माया, निर्लज्जता, रस लोलुपता, विषयों की लालसा, पौद्गलिक सुखों की खोज—इत्यादि।

अलसो मन्द बुद्धिश्च, स्त्री लुब्धः परवंचकः।
कातरश्च सदा मानी, नील लेश्याधिको नरः॥

कापोत लेश्या।

कबूतर के गले के समान रक्त एवं कृष्ण (कबूतरिया रङ्ग) तथा कच्चे आम के रस से अनन्त गुण तिक्त पुद्गलों के सम्बन्ध से जो आत्मा में परिणाम होता है, वह कापोत लेश्या है। कार्य करने में एवं बोलने में वक्रता का होना, दूसरों को कष्ट हो ऐसी भाषा बोलना, किसी विषय में सरलता नहीं रखना इत्यादि कापोत लेश्या के परिणाम हैं।

तेजः लेश्या ।

हिंगूल सिन्दूर के समान रक्त और पके आम के रस से अनन्त गुण मधुर पुद्गलों के संयोग से जो आत्मा में परिणाम होता है, वह तेजो लेश्या है। ममता भाव का दूर होना, धर्म पर रुचि एवं दृढ़ता होना—तेजो लेश्या के परिणाम हैं।

पद्म लेश्या ।

हल्दी के समान पीले तथा मधु से अनन्त गुण मिष्ट पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है, वह पद्म लेश्या है। कषाय—क्रोध आदि—की मंदता, मित भाषिता, आत्म संयम, जितेन्द्रियता आदि पद्म लेश्या के परिणाम हैं।

शुक्ल लेश्या ।

शंख के समान श्वेत और मिसरी से अनन्त गुण मीठे पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा का जो परिणाम होता है, वह शुक्ल लेश्या है। शान्त मन, जितेन्द्रियता, वीतरागता आदि शुक्ल लेश्या के परिणाम हैं।

रागद्वेष विनिर्मुक्तः शोक निन्दा विवर्जितः ।
परमात्मता संपन्नः शुक्ल लेश्यो भवेन्नरः ॥

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श	मन्तव्य
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश	इनमें प्रथम तीन लेश्या अधर्म लेश्या है। पीछे की तीन लेश्या धर्म लेश्या है। उदाहरण के द्वारा तारतम्य दिखाया गया है।
नील	नीलम के समान नीला	सौंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण			
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्त गुण तिक्त			
तेजः	हिंगूल सिन्दूर के समान रक्त	पक्के आम के रस से अनन्त गुण मधुर	सुरभि कुसुम की गन्ध से अनन्त गुण इष्ट गन्ध	नवनीत मक्खन से अनन्त गुण सुकुमार	
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त गुण मिष्ट			
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट			

उदाहरण—

छव व्यक्ति जामुन के बाग में फ़ल खाने के लिये गए। वहाँ पहुंचते ही प्रथम पुरुष बोला - देखो अब जामुन का वृक्ष आ गया, इसे अब काट गिराना ही अच्छा है ताकि नीचे बैठे बैठे अच्छे अच्छे फल खा सकें। ऐसा सुनकर दूसरे व्यक्ति ने कहा—इससे क्या लाभ, केवल बड़ी शाखाओं को काटने से ही

हमारा काम चल जावेगा। तीसरे ने कहा—यह तो उचित नहीं, छोटी छोटी शाखाओं से भी तो हमारा काम निकल जावेगा। चौथे ने कहा—केवल फल के गुच्छों को तोड़ना ही काफी है। पाँचवें ने कहा—हमें गुच्छों से क्या प्रयोजन, सिर्फ फल ही ले लेना अच्छा है। अन्त में छट्ठे मनुष्य ने कहा—यह सब विचार व्यर्थ है। हमें जितनी आवश्यकता है उतने फल तो नीचे गिरे हुये हैं ही, फिर व्यर्थ में इतने फल तोड़ने से क्या लाभ? इस दृष्टान्त से लेश्या का स्पष्ट रूप समझ में आ जाता है। प्रथम पुरुष के परिणाम कृष्ण लेश्या के हैं और क्रमशः छट्ठे पुरुष के परिणाम शुक्ल लेश्या के हैं। यह दृष्टान्त सिर्फ परिणामों—विचार धाराओं—की तरतमता दिखलाने के लिये है।

बोल अठारहवाँ

दृष्टि तीन—

(१) सम्यक् दृष्टि, (२) मिथ्या दृष्टि, (३) सम्यक्-मिथ्या दृष्टि।

साधारणतया दृष्टि का अर्थ है चक्षु परन्तु यहाँ पर दृष्टि शब्द का प्रयोग तत्व श्रद्धान, तात्विक रुचि के अर्थ में हुआ है। आध्यात्मवाद में मुख्यतः तात्विक दृष्टि को ही लक्ष्य कर भिन्नता

व समानता का दिग्दर्शन कराया जाता है। इस बोल में भी तात्विक दृष्टि के आधार पर ही दृष्टि के तीन विभाग किये गये हैं।

सम्यक् अर्थात् पदार्थों के असली स्वरूप में विश्वास करने वाले की दृष्टि, सम्यक् दृष्टि होती है। मिथ्या अर्थात् पदार्थों को मिथ्या मानने वाले की दृष्टि, मिथ्या दृष्टि है। कितनेक तत्वों में यथार्थ विश्वास रखने वाले तथा कितनेक में सन्देह रखने वाले की दृष्टि, सम्यक्—मिथ्या—दृष्टि है।

प्रस्तुत विषय में सम्यक्त्वी की दृष्टि सम्यक् दृष्टि, मिथ्यात्वी की दृष्टि मिथ्या दृष्टि और सम्यक् मिथ्या दृष्टि वाले की दृष्टि को सम्यक्—मिथ्या दृष्टि कहा है। तीनों की दृष्टि निरवद्य एवं विशुद्ध है, क्योंकि मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से ही तीनों दृष्टि होती है।

प्रश्न—मिथ्यात्व और मिथ्या दृष्टि में क्या अन्तर है?

उत्तर—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है और मिथ्या-दृष्टि मोहनीय कर्म का क्षयोपशम है। मिथ्यात्व में तात्विक श्रद्धा की विपरीतता का और मिथ्या दृष्टि से मिथ्यात्वी में पाये जाने वाले क्षयोपशम का बोध कराया गया है।

सम्यक् दृष्टि है जिसकी वह है सम्यक् दृष्टि, मिथ्या है दृष्टि जिसकी वह है मिथ्या दृष्टि, मिश्रित है दृष्टि जिसकी वह है सम्यक् मिथ्या दृष्टि—ऐसा अर्थ भी इनका किया जा सकता है। परन्तु यहाँ पहले का अर्थ ही ठीक है। प्रस्तुत बोल में गुणी का प्रतिपादन न करके केवल गुण का ही प्रतिपादन है।

मिथ्या अथवा विपरीत है दृष्टि जिसकी वह है मिथ्या दृष्टि एवं मिथ्यात्व है जिसमें वह है मिथ्यात्वी। इन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं। यह मोहनीय कर्म उदय जन्य है। इसके कारण ही मिथ्यात्वी में विपरीत श्रद्धा होती है। मिथ्यात्वी की दृष्टि है मिथ्या दृष्टि। इस व्युत्पत्ति से उस क्षायोपशमिक दृष्टि का वोध होता है जो मिथ्यात्वी में मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त है। वह क्षयोपशम जन्य है। इस कारण ही मिथ्यात्वी में कतिपय अंशों में सम्यक् श्रद्धा होती है। तेरहवें वोल में वताये गये दश वस्तुओं में नव को ठीक समझता है, और एक वस्तु को मिथ्या मानता है वह भी मिथ्यात्वी ही कहलाता है। ऐसी दशा में वह मिथ्यात्वी भी कतिपय अंशों में सम्यक् श्रद्धायुक्त अवश्य ही होगा।

कुवे से शुद्ध स्वच्छ जल निकाला जा रहा है। उस पानी से एक ब्राह्मण ने अपने घड़े मे पानी भरा और एक मेहतर ने अपने घड़े में। दोनों के घड़े साफ हैं, स्वच्छ हैं। ब्राह्मण के घड़े का पानी हर कोई पी लेता है परन्तु मेहतर के घड़े का पानी कोई भी नहीं पीना चाहता। दोनों के घड़े का पानी एक जैसा है फिर यह भेद भाव क्यों? वास्तविकता यह है कि ब्राह्मण और मेहतर के दैनिक कामों में रात दिन का अन्तर है। भेद है। अतः उसी के आधार पर पानी एक होने पर भी लोगों ने उसमें भेद कर डाला। इसी प्रकार जैन दर्शन में भी सम्यक्त्वी की दृष्टि और मिथ्यात्वी की दृष्टि का फर्क कर डाला। सम्यक्त्वी

की विचारधारा और मिथ्यात्वी की विचार धारा में आकाश पाताल का अन्तर है। सम्यक्त्वी हरेक वस्तु का उपयोग आत्मिक उत्थान के लिये करता है और मिथ्यात्वी हरेक वस्तु को संसार की उन्नति के काम में लाता है। सम्यक्त्वी की दृष्टि मोक्ष की तरफ लगी है और मिथ्यात्वी की संसार की तरफ। सम्यक्त्वी का ज्ञान अल्प मात्रा में होने पर भी ज्ञान कहलाता है और मिथ्यात्वी का ज्ञान अति विशाल होने पर भी अज्ञान कहलाता है। दोनों अपने अपने ज्ञान का उपयोग दो भिन्न दिशाओं में करते हैं। एक संसार के लिये, दूसरा मोक्ष के लिये। जैन दर्शन में इसी फर्क को बतलाने के लिये तीन भिन्न दृष्टियों का प्रतिपादन किया गया है।

बोल उन्नीसवाँ

ध्यान चार—

(१) आर्त्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान (४) शुक्ल ध्यान।

जैन दर्शन के अनुसार ध्यान का अर्थ है चिन्तनीय विषय में मन को एकाग्र करना एवं योगों अर्थात् मन वचन काया की प्रवृत्तियों, का निरोध करना।

अपनी ज्ञान धारा को अनेक विषय गामिनी बनने से रोक

कर एक विषय गामिनी बना देना ही ध्यान है। एक विषय पर मन को स्थिर करना ही ध्यान है।

ध्याता[1] ध्यान[2] के द्वारा अपने ध्येय[3] को प्राप्त करने का प्रयास[4] करता है और उसमें सफल भी होता है। ध्येय की इष्टता व अनिष्टता के आधार पर ध्यान भी इष्ट व अनिष्ट बन जाता है। सामान्यतः ध्येय अपरिमित है। जितने मनुष्य हैं उन सब की विचार-धारा व एकाग्रता विभिन्न होती है। उनका प्रतिपादन[5] करना असम्भव है। प्रस्तुत बोल में एकाग्रता का वर्गीकरण कर संक्षेप में चार भाग कर दिये गये हैं। संसार सम्मुखीन[6] जितनी एकाग्रता है वह सब आर्त्त व रौद्र ध्यान में प्रविष्ट हो जाती है परमात्म-सुख-सम्मुखीन जितनी एकाग्रता है वह सब धर्म व शुक्ल ध्यान में प्रविष्ट हो जाती है।

जैन सिद्धान्त में ध्यान चार प्रकार के माने गये हैं—आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। आर्त्त और रौद्र संसार के कारण हैं अतः हेय हैं, त्याज्य हैं, छोड़ने योग्य हैं। धर्म और शुक्ल मोक्ष के कारण हैं अतः उपादेय हैं ग्रहण करने योग्य हैं।

आर्त्त ध्यान:

अर्ति का अर्थ है पीड़ा या दुःख, उसमें होने वाली

१ ध्यान करने वाला। २ चिन्तनीय विषय में होने वाली एकाग्रता। ३ चिन्तनीय विषय। ४ चेष्टा। ५ प्रमाण पूर्वक वर्णन करना। ६ सम्बन्धी।

एकाग्रता को आर्त्त ध्यान कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं और इन्हीं कारणों को लेकर आर्त्त ध्यान के चार भेद कर दिये गये हैं जैसे:—

(१) अनिष्ट-वस्तु-संयोग।

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिये निरन्तर चिन्ता करना।

(२) इष्ट-वियोग।

किसी इष्ट-मनोनुकूल वस्तु के चले जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के निमित्त सतत चिन्ता करना।

(३) प्रतिकूल वेदना।

शारीरिक या मानसिक पीड़ा या रोग होने पर उसे दूर करने की व्याकुलता में हरवक्त चिन्ता करते रहना।

(४) भोग लालसा।

भोगों की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर, अप्राप्त भोग्य वस्तु को प्राप्त करने का तीव्र संकल्प करना, मन को हरवक्त उसी में लगाये रखना।

रौद्र ध्यान।

जिसका चित्त क्रूर व कठोर हो वह है रुद्र और ऐसी रुद्र आत्मा का जो ध्यान है वह रौद्र ध्यान है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों को मजबूती से संभाल कर रखने की वृत्ति से

क्रूरता व कठोरता पैदा होती है एवं इसी कारण जो निरन्तर चिन्ता हुआ करती है वह अनुक्रम से—

(१) हिंसानुबन्धी[1] (२) अनृतानुबन्धी[2] (३) स्तेयानुबन्धी[3] तथा (४) विषयसंरक्षणानुबन्धी[4] रौद्र ध्यान कहलाता है।

धर्म ध्यान।

धर्म ध्यान के चार भेद किये गये हैं :—

(१) आज्ञा-विचय।

वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की क्या आज्ञा है और कैसी होनी चाहिये—इसको परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिये मनोयोग देना, इस विषय में निरन्तर सोचते रहना—आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

(२) अपाय विचय।

मेरे दोष क्या हैं, उनका स्वरूप क्या है, उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है—इस विषय में मनोयोग देना, निरन्तर चिन्तवन करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।

---

१ हिंसा सम्बन्धी। २ अनृत यानी झूठ सम्बन्धी। ३ स्तेय अर्थात् चोरी सम्बन्धी। ४ विषयों की रक्षा करने सम्बन्धी।

किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,
किं सक्काणिज्जं न समायरामि।
किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं चाहं खलिअं न विवज्जयामि।
न तं अरि कंठ छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया।

मैंने इस जीवन में आत्म कल्याण का कौन-सा कार्य किया या कौन-सा काम ऐसा बाकी है जिसको मैं कर सकता हूं, किन्तु नहीं कर रहा हूं ? क्या मेरी स्खलना कोई दूसरा देखता है या मैं स्वयं देखता हूं ? मैं किस स्खलना को नहीं वर्जता हूं ?

"न करे कंठ छेदन अरि जेहूं, अनरथ तेहूं विशेषो रे, करे पोतानी दुष्ट आत्म करी, तेम तुमे जाणेसो रे"– अर्थात् अपनी आत्मा की दुष्ट प्रवृत्ति जो अनर्थ करती है, वैसा अनर्थ कंठ छेदने वाला शत्रु भी नहीं करता।

(३) विपाक विचय।

अनुभव में आने वाले विपाकों में से कौन-कौन सा विपाक किस किस कर्म का आभारी है तथा

अमुक कर्म का अमुक विपाक सम्भव है—इनके विचारार्थ मनोयोग लगाना—विपाक विचय धर्म ध्यान है।

(४) संस्थान विचय।

लोक के स्वरूप का विचार करने में मनोयोग देना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।

शुक्ल ध्यान।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद किए गए हैं:—

(१) पृथकत्व वितर्क स-विचार, (२) एकत्व वितर्क अ-विचार, (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती, (४) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।

पृथकत्व वितर्क सविचार।

पृथकत्व—भिन्नता। वितर्क-श्रुतज्ञान। विचार का अर्थ है—एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर और शब्द से अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करना।

इस ध्यान में श्रुतज्ञान के आधार पर चेतन या अचेतन पदार्थ में उत्पाद विनाश, निश्चलता, रूपीत्व, अरूपीत्व, सक्रियत्व, निष्क्रियत्व आदि पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तवन किया

जाता है। चिन्तवन का परिवर्तन होता रहता है। यह भेद प्रधान है।

एकत्व वितर्क अविचार।

एकत्व - अभिन्नता। वितर्क-श्रुतज्ञान।

अविचार का अर्थ है—एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर और शब्द से अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति नहीं करना। इसमें ध्यान करने वाला किसी एक शब्द व अर्थ को लेकर चिन्तवन करता है। मन आदि तीन योगों में से किसी एक योग पर अटल रहकर चिन्तवन करता है किन्तु भिन्न भिन्न शब्द अर्थ योग आदि में संचार—परिवर्तन नहीं करता। यह अभेद प्रधान है। एक ही वस्तु को लेकर साधना की जाती है।

इन दोनों में से पहले भेद प्रधान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के पश्चात् दूसरे अभेद प्रधान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समूचे शरीर में फैले हुए सांप के जहर को मन्त्र आदि उपायों से सिर्फ डंक की जगह में लाकर स्थापित किया जाता है वैसे ही सारे जगत् के भिन्न भिन्न विषयों में चंचल और भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा

किसी एक विषय पर लगा कर स्थिर किया जाता है। एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही आखिरकार मन भी सर्वथा शान्त हो जाता है। मन की चंचलता हट जाती है और वह निष्कंप बन जाता है और परिणाम यह होता है कि ज्ञान के सकल आवरणों के हट जाने पर सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है।

सूक्ष्म – क्रिया – प्रतिपाती ध्यान।

जब सर्वज्ञ भगवान योग निरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर बाकी के सब योगों को रोक देते हैं तब वह सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान कहलाता है। इसमें श्वासोच्छ्वास सरीखी सूक्ष्म क्रिया ही बाकी रह जाती है और उसमें पतन होने की सम्भावना नहीं है।

समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान।

जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रिया भी बन्द हो जाती है और आत्म प्रदेश सर्वथा निष्कंप हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहलाता है। इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया नहीं रहती। यह स्थिति एक बार प्राप्त

होने पर फिर कभी जाती नहीं। इस ध्यान के प्रभाव से शेष सब कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान में किसी प्रकार के श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता अतः ये दोनों अनालम्बन भी कहलाते हैं।

सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति के सिवाय सब ध्यान चिन्तनात्मक हैं और ये दोनों योग निरोधात्मक है। केवल ज्ञान की प्राप्ति तक चिन्तनात्मक ध्यान रहता है। केवल ज्ञानियों के सिर्फ योग निरोधात्मक ध्यान ही होता है। मुक्त होने से अन्तर्मुहूर्त्त पहले मनोयोग का, उसके बाद वचन योग का, उसके बाद काय योग का, उसके बाद श्वासोच्छ्वास का निरोध हो जाता है। चौदहवाँ अयोगी गुणस्थान आ जाता है। आत्मा की सब प्रवृत्तियाँ रुक जाती है। यह आत्मा की शैलेशी—मेरू की भाँति अडोल—अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा मुक्त बन जाती है।

प्रथम दो ध्यान—आर्त्त और रौद्र संसार भ्रमण के हेतु हैं और अन्तिम दो ध्यान मुक्ति के साधक हैं।

बोल बीसवाँ

षट् द्रव्य—

कइणं भंते दव्वा पणत्ता गोयमा। छद्व्वा पणत्ता तंजहा धम्मात्थि काए अधम्मात्थिकाए आगासात्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलात्थिकाए अद्धासमए।

—भगवती

द्रव्य संख्या में छव हैं—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।

प्रश्न—द्रव्य किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसमें गुण और पर्याय होते हैं उसका नाम द्रव्य है।

गुण—अविच्छिन्न रूप से द्रव्य में रहने वाला, द्रव्य का जो सहभावी धर्म अर्थात् द्रव्य को त्याग कर अन्यत्र न जा सकने वाला स्वभाव है वह गुण कहलाता है। गुण द्रव्य से कभी पृथक नहीं हो सकता।

पर्याय—द्रव्य की जो भिन्न भिन्न अवस्थायें होती हैं उनका नाम पर्याय है। द्रव्य पूर्व अवस्थाओं को, जिनको पा चुका है, उन्हें छोड़ता चला जाता है और उत्तर अवस्थायें जो प्राप्त होगी उन्हें प्राप्त करता है, फिर भी अपने स्वरूप को

त्यागता नहीं। वह दोनों अवस्थाओं में अपने स्वरूप को सुरक्षित रखता है। सोने के रूप में परिणत जो पुद्गल हैं वे सोने की आकृति के परिवर्तन के साथ साथ नाना प्रकार की अवस्थाओं को पाते हैं। सोने की कभी अंगूठी बना ली जाती है कभी कङ्कन तो कभी कड़ा। फिर भी सोना सोना ही रहता है। परिवर्तन तो सिर्फ आकृतियों का होता है। परन्तु यह भी जान लेना चाहिये कि सोना कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं, वह खुद भी पुद्गल द्रव्य की अनन्त अवस्थाओं में से एक अवस्था है। आज जो पुद्गल स्कन्ध सोने के रूप में परिणत हैं वे भी एक दिन सोने के रूप को त्याग कर मिट्टी के रूप में बदल सकते हैं। मिट्टी के रूप को त्याग कर पुनः कोई नया रूप धारण कर सकते हैं। इस प्रकार उनका भिन्न भिन्न अवस्थाओं में परिणमन होने पर भी उनका द्रव्यत्व कायम रहता है। पुद्गल द्रव्य का लक्षण वर्ण गन्ध रस और स्पर्श है। जब वह पुद्गल समुदाय सोने के रूप में रहता है तो भी उसमें वर्ण गन्ध रस स्पर्श मिलता है। पुनः वह पुद्गल समूह जब मिट्टी के रूप में बदल

जाता है तब भी उसमें वर्ण गन्ध रस और स्पर्श मिलता है। वह पुद्गल समूह चाहे किसी भी रूप में चला जाय उसका लक्षण तो उसके साथ ही रहेगा। यदि वह पुद्गल समुदय, समुदय की अवस्था को छोड़ कर बिखर जाय अर्थात् एक एक परमाणु के रूप में अलग अलग हो जाय तब भी प्रत्येक परमाणु में वर्ण गन्ध रस स्पर्श मिलेगा। द्रव्य की अवस्था बदलते रहने पर भी द्रव्य का स्वरूप वही रहता है। द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्य भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं त्यागता, अतः वह नित्य है और वह भिन्न भिन्न अवस्थाओं में जाता रहता है अतः वह अनित्य है।

पुद्गल द्रव्य के सिवाय अवशिष्ट पांच द्रव्य अमूर्त्त हैं, अरूपी है अतः दृष्टिगम्य नहीं। पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है, फिर भी परमाणु या सूक्ष्म स्कन्ध शक्तिशाली यंत्रों Powerful microscopes) की सहायता होने पर भी दृष्टिगोचर हो नहीं सकते इस लिये इनका स्वरूप जानने के लिये विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा प्रणीत सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ता है।

वस्तु की विशेष जानकारी के लिये शास्त्रों में चौदह प्रकार का निर्देश है जैसे एक नवीन पदार्थ को देख कर यह जानने की इच्छा होती है कि अमुक पदार्थ कब तैयार हुआ ? कैसे तैयार हुआ ? इसमें गुण क्या ? परन्तु प्रस्तुत बोल में केवल द्रव्य क्षेत्र काल भाव और गुण—इन पांच प्रश्नों को लेकर मीमांसा की गयी है।

द्रव्य उसका स्वरूप क्या है ? क्षेत्र—यह किस स्थान में प्राप्त है ?

काल—वह कब उत्पन्न हुआ, अब है या नहीं और कहां तक रहेगा ?

भाव—वह किस अवस्था में है ? गुण—वह जगत का उपकारी है या नहीं यदि है तो क्या उपकार करता है इन पांच प्रश्नों के द्वारा ही षट् द्रव्य का स्वरूप समझाना इस बोल का मुख्य उद्देश्य है।

धर्मास्तिकाय।

शब्दार्थ—धर्म—गति में सहायता करने वाला द्रव्य, अस्ति—उस धर्म के प्रदेश, काय—उन प्रदेशों का समूह=धर्मास्तिकाय।

द्रव्य धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, अर्थात् यह असंख्य प्रदेशों का अविभाज्य पिण्ड है। एक कहने का अभिप्राय यह है कि यह एक ही है, बहु व्यक्तिक नहीं।

क्षेत्र—धर्मास्तिकाय क्षेत्र से सकल लोक व्यापी है। समूचे लोक में फैला है।

काल—धर्मास्तिकाय काल से अनादि अनन्त है। वह न तो कभी उत्पन्न हुआ और न कभी उसका अन्त ही होगा अर्थात् वह त्रिकाल वर्त्ती है।

भाव—धर्मास्तिकाय भाव से अरूपी है अर्थात् रूप रहित है।

गुण—धर्मास्तिकाय गुण से चलने में अपेक्षित सहायता करता है।

प्रश्न—गतिशील पदार्थ कितने हैं ?

उत्तर—गतिशील पदार्थ दो हैं—जीव और पुद्गल।

प्रश्न—गतिशक्ति धर्मास्तिकाय में विद्यमान है या जीव पुद्गल में ?

उत्तर—गतिशक्ति जीव पुद्गल में है, धर्मास्तिकाय में नहीं। धर्मास्तिकाय तो केवल जीव और पुद्गल के हलन चलन में सहकारी कारण है जैसे मछलियों के लिये जल। उसका उपादान कारण अर्थात् आत्मीय कारण तो जीव व पुद्गल ही है। धर्मास्तिकाय के बिना जीव व पुद्गल गमनागमन नहीं कर सकते। अतः धर्मास्तिकाय का अस्तित्व अनिवार्य है। तीनों ही काल में जीव तथा पुद्गल की गमन क्रिया विद्यमान रहती है अतः इसका

त्रिकालवर्त्ती होना भी आवश्यक है। जीव व पुद्गल सम्पूर्ण लोक में गति करते हैं, चलते फिरते हैं अतः धर्मास्तिकाय का विश्व-व्यापी होना भी अनिवार्य है। कृष्ण आदि पांच वर्ण इसमें नहीं अतः इसका अरूपित्व भी निश्चित है। गुण के बिना वस्तु का अस्तित्व टिक नहीं सकता। चूंकि धर्मास्तिकाय वस्तु है अतः इसमें गति-क्रिया सहायक गुण विद्यमान रहना भी जरूरी है। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः जीव पुद्गल वहाँ नहीं जा सकते।

अधर्मास्तिकाय।

अधर्म—स्थिति में सहायता करने वाला द्रव्य, अस्तिकाय—पूर्ववत।

द्रव्य—अधर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, अर्थात् असंख्य प्रदेशों का अविभाज्य पिण्ड है। एक कहने का अभिप्राय यह है कि वह एक ही है वहुव्यक्तिक नहीं।

क्षेत्र—अधर्मास्तिकाय क्षेत्र से समस्त विश्व में व्यापक है।

काल—अधर्मास्तिकाय अनादि और अनन्त है।

भाव—अधर्मास्तिकाय भाव से अरूपी है।

गुण—अधर्मास्तिकाय स्थिर रहने में अपेक्षित सहायता करता है।

प्रश्न– स्थिर पदार्थ कितने हैं ?

उत्तर—सभी पदार्थ स्थिर हैं। जीव और पुद्गल के सिवाय और सब पदार्थ तो स्थिर हैं ही, जीव और पुद्गल में भी निरन्तर गति नहीं होती, वे कभी फिरते हैं, कभी स्थिर रहते हैं। पुनः चलना एवं स्थिर होना यह क्रम बराबर चालू रहता है।

प्रश्न—अधर्मास्तिकाय स्थिर रहने में सहायक जीव तथा पुद्गल का ही है व स्वभाव से स्थिर रहने वाले पदार्थों का भी ?

उत्तर—स्वभावतः स्थिर पदार्थों का नहीं, केवल गति शील पदार्थों का है, क्योंकि जो स्वभावतः स्थिर हैं उनको सहायता की कोई आवश्यकता नहीं। सहायता की जरूरत उन्हीं पदार्थों को होती है जो सदा स्थिर नहीं रह सकते। स्थिर रहने में उपादान अर्थात् आत्मीय कारण स्वयं पदार्थ ही है, अधर्मास्तिकाय तो केवल साहाय्य मात्र है।

अधर्मास्तिकाय के विना जीव व पुद्गल स्थिर नहीं रह सकते अतः अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व अनिवार्य है। स्थिरता का अस्तित्व सम्पूर्ण लोक में है अतः इसका सकल लोक व्यापी होना भी जरूरी है—इत्यादि धर्मास्तिकाय की तरह समझना चाहिए। अलोक में अधर्मास्तिकाय का अभाव है अतः-वहाँ पदार्थों की स्थिरता का प्रश्न भी आकाश कुसुम के समान है, क्योंकि

धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव व पुद्गल वहाँ जा ही नहीं सकते।

प्रश्न—धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व सिद्ध करने में आगम प्रमाण ही उपलब्ध है या और कोई भी ?

उत्तर—अनुमान प्रमाण से भी इनका अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध होता है। जब हम लोक व अलोक के विभाग पर दृष्टिपात करते हैं तो मालूम पड़ता है कि लोक व अलोक का विभाग करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। आकाश लोक तथा अलोक दोनों में व्याप्त है। जिस आकाश में धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय है उसी में जीव व पुद्गल रह सकता है, अन्यत्र नहीं, इसीलिये उसका नाम है लोकाकाश व लोक। "लोक्यं ते जीवाद्यो यस्मि न्निति लोकः" अर्थात् देखे जाते हैं जीव आदि जिसमें, वह लोक है। जिसमें उपरोक्त द्रव्य नहीं है उसका नाम है अलोकाकाश या अलोक। यदि धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व न माना जाय तो फिर लोक व अलोक का विभाग करने वाला कोई भी पदार्थ न मिल सकेगा। अतः निश्चित रूप से यह अनुमान किया जाता है कि कोई न कोई दृष्टि विषयातीत ऐसा द्रव्य है जो कि लोक की सीमा करता हुआ अलोक से लोक को पृथक् कर रहा है।

हम चर्म चक्षु वाले, मति श्रुतज्ञान वाले उसकी अनुमान के द्वारा आवश्यकता महसूस करते हैं पर वह क्या है इसका पता नहीं लगा सकते। जब इसकी खोज में निकलते हैं तब सिद्धान्तों में धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय के रूप में वह उपलब्ध हो जाता है।

प्रश्न—अलोक है—यह सिद्धान्त एच्छिक है या प्रमाण सिद्ध ?

उत्तर—आगम प्रमाण सिद्ध।

प्रश्न—जो जैनेतर दर्शन हैं, उनको क्या अलोक मानना ही पड़ेगा ?

उत्तर—जो लोक को मानते हैं उन्हें अलोक मानना ही पड़ेगा क्योंकि एक ऐसा नियम है कि शुद्ध व्युत्पत्ति वाला नामा-देश तभी होगा जब कि उसका दूसरा कोई न कोई प्रतिपक्ष पदार्थ मिलता हो। प्रतिपक्ष पदार्थ के अभाव में किसी पदार्थ का नामकरण हो नहीं सकता। प्रकाश का प्रतिपक्ष अन्धकार है। साहूकार का प्रतिपक्ष चोर है। उष्ण का प्रतिपक्ष शीत है। मृदु का प्रतिपक्ष कठोर है। स्निग्ध का प्रतिपक्ष रूक्ष है इत्यादिक जितने शुद्ध व्युत्पत्तिक नाम हैं वे सबके सब पदार्थों के विरोधी स्वभाव के कारण दिये गये हैं। लोक शुद्ध व्युत्पतिक शब्द है। अतः अलोक के अस्तित्व से ही लोक का अस्तित्व जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं।

आकाशास्तिकाय ।

आकाश—आश्रय देने वाला द्रव्य । अस्तिकाय—पूर्ववत ।

द्रव्य—आकाशास्तिकाय असंख्य व अनन्त प्रदेशों का एक अविभाज्य पिण्ड है। एक कहने का उद्देश्य यह है कि वह पृथक् पृथक् व्यक्ति रूप नहीं परन्तु एकाकार है।

क्षेत्र—आकाशास्तिकाय लोक अलोक दोनों में व्याप्त है।

काल—आकाशास्तिकाय अनादि और अनन्त है।

भाव—आकाशास्तिकाय भाव से अमूर्त्त है।

गुण—आकाशास्तिकाय गुण से भाजन गुण वाला अर्थात् अवकाश देने वाला द्रव्य है।

प्रश्न—आधार कितने पदार्थ हैं और आधेय कितने ?

उत्तर—एक आकाश द्रव्य आधार है, अवशिष्ट सब द्रव्य आधेय हैं। आकाश भी अमूर्त्त होने के कारण हमें दीख नहीं सकता तथापि हम उन अपार-तत्वदर्शी गणधरों द्वारा प्रणीत आगमों से उसका निश्चय करते हैं। अनुमान तथा तर्क के बल पर भी हमें उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। आधार के अभाव में कोई भी पदार्थ टिक नहीं सकता। घड़े में पानी इसलिये ठहरता है कि उसमें आश्रय देने का गुण विद्यमान है। कोई न कोई ऐसा व्यापक पदार्थ

अवश्य होना चाहिए जो समस्त पदार्थों को आश्रय दे सके। इस पदार्थ का पता लगाने को जब हम आगे बढ़ते हैं तब आकाश नामक द्रव्य ही उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि आधार देने वाले द्रव्य की आवश्यकता हमें प्रतीत होती है परन्तु वह क्या है हम नहीं जान मकते। इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र दे रहे हैं कि तुम जिसकी आवश्यकता महसूस कर रहे हो वह आकाश है। आकाश सबको अवकाश दे रहा है। यह सारा संसार उसी के गुण पर प्रतिष्ठित है। विशेप खुलासा के लिये लोक स्थिति का शास्त्रोक्त वर्णन यहाँ उद्धृत किया जाता है।

त्रस स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है। पृथ्वी का आधार जल है। जल का आधार वायु और वायु का आधार आकाश है। उक्त शास्त्रीय पाठ से यह निश्चित है कि सारे विश्व का आधार आकाश है। वायु जल पृथ्वी आदि आधार व आधेय दोनों है। आकाश केवल आधार ही है आधेय नहीं। पृथ्वी, त्रस स्थावर आदि प्राणियों का आधार है तथा स्वयं उदधि प्रतिष्ठित है—जल पर टिकी हुई है—अतः आधेय है। उदधि पृथ्वी का आधार है परन्तु स्वयं वायु प्रतिष्ठित है अतः आधेय है। वायु उदधि का आधार है परन्तु स्वयं आकाश प्रतिष्ठित है अतः आधेय है। आकाश वायु का आधार है और वह आत्म प्रतिष्ठित है अतः आधेय नहीं।

प्रश्न—आकाश अमूर्त्त है तो फिर उपरितल में उसका आसमानी रङ्ग क्यों प्रतीत होता है ?

उत्तर—यह रङ्ग आकाश का नहीं, आकाश तो जैसा यहाँ है वैसा ही सर्वत्र है। जो आसमानी रङ्ग दृष्टिगोचर हो रहा है वह दूर-स्थित रजःकण है। यद्यपि रजःकण हमारे आसपास भी घूमते रहते हैं तथापि सामीप्य के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते परन्तु दूरी व सघनता होने पर वही रजः कण आसमानी वर्ण में पिण्ड के रूप में दीखने लग जाते हैं। ऊपरवर्त्ती बादल एक सघन पिण्ड के रूप में दिखायी देते हैं पर निकट आने पर वे नहीं के समान प्रतीत होने लग जाते हैं। दूर से आकाश जमीन को छूता हुआ दीखता है परन्तु पास जाने पर ऐसा नहीं।

आकाश द्रव्य के द्वारा नास्तिकता का भी निराकरण किया जा सकता है। नास्तिक सिर्फ एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि जो जो स्पर्श, रस, रूप, गन्ध शब्द आदि इन्द्रिय विषय—भूत पदार्थ है उनसे इतर आत्मा आदि कोई भी पदार्थ नहीं। अतः प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। किन्तु जब आकाश के अस्तित्व का प्रश्न सामने आता है तब वे बड़े असमंजस में पड़ जाते हैं, क्योंकि आकाश व इसके समान दूसरा कोई आश्रय देने वाला द्रव्य तो मानना ही पड़ेगा और वह दृष्टिगम्य नहीं

अतः उसकी जानकारी के लिये प्रत्यक्ष (चारवाक् सम्मत) के सिवाय अनुमान, आगम आदि प्रमाणों की जरूरत हो ही जाती है। इस प्रकार आकाश नास्तिक मत का खण्डन करने में निपुण व उपयोगी है।

आकाश लोक तथा अलोक दोनों में व्याप्त है। लोक—आकाश के प्रदेश असंख्य हैं। इसका परिमाण चौदह रज्जू का है। रज्जू का अर्थ एक कल्पना के द्वारा समझाया जाता है। एक व्यक्ति एक निमेष में एक लाख योजन की गति करता है। इस प्रकार की शीघ्र गति से छव महीने में वह जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है उतने क्षेत्र को एक रज्जू कहते हैं, अथवा असंख्य योजन मान क्षेत्र को रज्जू कहते हैं। लोकाकाश की तुलना धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एक आत्मा के प्रदेश के परिमाण से की जाती है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के भी असंख्यात् प्रदेश हैं और एक एक आकाश प्रदेश पर उनका एक एक प्रदेश फैला हुआ है। एक एक आत्मा के प्रदेश भी असंख्य होते हैं। आठ समय वाले केवली समुद्घात में बताया गया है कि लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर आत्मा का एक एक प्रदेश व्याप जाता है। आकाश का दूसरा भाग, जिसमें आकाश के सिवाय कुछ नहीं है उसका नाम अलोक-आकाश है। यह लोक को चारों तरफ से घेरे हुये है और अनन्त है।

काल।

जैसे पूर्वोक्त द्रव्य अस्तिकाय है वैसे काल अस्तिकाय

नहीं। काल वास्तविक द्रव्य नहीं किन्तु काल्पनिक है। काल के प्रदेश नहीं और उनके अभाव में समूह का अभाव स्वतः सिद्ध है। "अनागतस्यानुतपत्तेः उत्पन्नस्य च नाशतः प्रदेश-प्रचया-भावात् काले नैवास्तिकायता"—अर्थात् अनागत काल की उत्पत्ति हुई नहीं, उत्पन्न काल का नाश हो जाता है एवं प्रदेशों का प्रचय नहीं है अतः काल अस्तिकाय नहीं। काल द्रव्य से अनन्त द्रव्य है। क्षेत्र से ढ़ाई द्वीप प्रमाण है। काल से अनादि अनन्त है। भाव से अमूर्त्त है, गुण से गुण वाला वर्तमान है।

प्रश्न—काल जब वास्तविक द्रव्य ही नहीं तो फिर उसकी कल्पना किस लिये उपयोगी है तथा उसके अनन्त द्रव्य कैसे हुए और वह अनादि अनन्त कैसे हो सकता है?

उत्तर—कल्पना का यह प्रयोजन नहीं कि किसी ने कल्पना की है किन्तु काल के परमाणु व प्रदेश नहीं अतएव काल द्रव्य काल्पनिक कहा जाता है।

काल की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि काल के बिना कोई भी कार्यक्रम निर्धारित नहीं हो सकता। छोटे से लेकर बड़े कार्य तक में काल का साहाय्य अपेक्षित है। भूत (हुआ) वर्तमान (है) और भविष्यत् (होगा)- इनके बिना किसी का काम चल नहीं सकता। यह उपयोगित्ता प्रत्यक्ष प्रमाणित है।

काल के परम सूक्ष्म भाग का नाम समय है। ऐसे समय भूतकाल में अनन्त व्यतीत हो गये। वर्तमान में ऐसा एक समय है। आगामी काल में ऐसे अनन्त समय होंगे। अतः काल का अनन्त द्रव्यत्व माना गया है। काल जीव अजीव आदि अनन्त द्रव्यों पर वर्तता है इसलिये भी इसका अनन्त द्रव्यत्व कहा जाता है।

काल का अनादिपन तथा अनन्तपन लोक स्थिति पर निर्भर है। जब लोक स्थिति अनादि अनन्त है तब काल का अनादि अनन्त होना भी अनिवार्य है।

काल-विभाग—

काल के विभाग द्वारा ही आयुष्य आदि का माप किया जाता है। काल के विभाग इस प्रकार हैं :—

अविभाज्य काल का नाम समय है। समय को समझने के लिये शास्त्रों में कई उदाहरण उपलब्ध हैं। एक शक्तिशाली युवक एक जीर्ण तन्तु को जितने समय में तोड़ता है उसके असंख्यातवें भाग का नाम समय है। चक्षु के एक उन्मेष में जो टाइम लगता है उसके असंख्यातवं भाग का नाम समय है। बिजली का प्रवाह अति अल्पकाल में लाखों मीलों की यात्रा कर डालता है और वह अत्यन्त सूक्ष्म टाइम में जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है यदि उसके भाग किये जायं तो असंख्य होते हैं। इन उदाहरणों के आधार

पर समय की सूक्ष्मता का अनुमान लगाया जा सकता है।

अविभाज्य काल	= एक समय
असंख्य समय	= एक आवलिका
२५६ आवलिका	= एक क्षुल्लक भव (सब से छोटी आयु)
२२२३ — $\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका	= एक उच्छ्वास निश्वास
४४४६ — $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास	= एक प्राण
७ प्राण	= एक स्तोक
७ स्तोक	= एक लव
३८॥ लव	= एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव	= दो घड़ी। अथवा,
	= ६५५३६ क्षुल्लक भव। या,
	= १६७७७२१६ आवलिका अथवा,
	= ३७७३ प्राण। अथवा,
	= एक मुहूर्त्त (सामायिक काल)

३० मुहूर्त	= एक दिन रात (अहोरात्रि)
१५ दिन	= एक पक्ष
२ पक्ष	= एक मास
२ मास	= एक ऋतु
३ ऋतु	= एक अयन
२ अयन	= एक साल
५ साल	= एक युग
७० क्रोड़ाक्रोड़ ५६ लाख क्रोड़ वर्ष	= एक पूर्व
असंख्य वर्ष	= एक पल्योपम
१० क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	= एक सागर
२० क्रोड़ाक्रोड़ सागर	= एक काल चक्र
अनन्त काल चक्र	= एक पुद्गल परावर्तन

पुद्गलास्तिकाय।

पुद्गल—जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श युक्त हो और जिसमें पूर्ण गलन मिलन होने का स्वभाव विद्यमान हो अर्थात् जो मिल सके और अलग हो सके।

अस्ति—प्रदेश, काय—समूह=पुद्गलास्तिकाय।

परमाणु भी पुद्गल का विभाग है परन्तु यहाँ काय शब्द का प्रयोग किया गया है अतः अस्ति का अर्थ केवल प्रदेश ही संगत है क्योंकि समूहित परमाणु ही प्रदेश कहलाते हैं जैसे दो परमाणुओं

का संयोग ही द्वि-प्रदेशी स्कन्ध कहा जाता है इत्यादि।

द्रव्य—पुद्गलास्तिकाय द्रव्य से अनन्त द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य अन्य द्रव्यों की तरह अविभाज्य पिण्ड नहीं किन्तु विभाज्य है। परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं। समुदित होकर पुनः स्कन्ध रूप में भी बदल जाते हैं।

क्षेत्र—पुद्गलास्तिकाय क्षेत्र से लोक प्रमाण है।

प्रश्न—लोकाकाश के प्रदेश असंख्य है और पुद्गल अनन्तानन्त हैं इस अवस्था में लोक प्रमाण का अवगाह कैसे घट सकता है ?

उत्तर—परिणमन की विचित्रता से परिमित लोक में अनन्त पुद्गल रह सकते हैं। एक परमाणु एक आकाश प्रदेश में रह सकता है वैसे द्वि-प्रदेशी, संख्य-प्रदेशी, असंख्य-प्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी परमाणु की भाँति सघन परिणति के योग से एक आकाश प्रदेश में रह सकता है और जब विकाश पाता है तब द्वि-प्रदेशी दो आकाश प्रदेश में एवं असंख्य-प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी असंख्य प्रदेशात्मक लोक में फैल सकते हैं किन्तु अपने प्रमाण से अधिक क्षेत्र में नहीं फैल सकते जैसे द्वि-प्रदेशी-स्कन्ध दो प्रदेश में फैल

सकता है, तीन प्रदेश में नहीं। अल्प और अधिक प्रदेशों का अवगाहन करने में सघन और असघन परिणति ही कारण है। अधिक परमाणु वाला स्कन्ध भी सघन परिणति से अल्प क्षेत्र में रह सकता है और उसकी अपेक्षा अल्प परमाणु वाला स्कन्ध असघन परिणति से उससे अधिक क्षेत्र में रहता है। एक सेर पारा जितने क्षेत्र (Area) को रोकता है उससे अधिक एक सेर लोहा और उससे अधिक एक सेर मिट्टी और उससे अधिक एक सेर रूई, यद्यपि रूई से मिट्टी का, मिट्टी से लोहे का और लोहे से पारे का पुद्गल प्रचय अधिक है। रूई से मिट्टी, मिट्टी से लोहा, लोहे से पारे की सघन परिणति है, अतएव क्षेत्र का रोकना भी क्रमशः अल्प अल्पतर होता है जैसे एक अनन्त प्रदेशी स्कन्ध समा जाता है वैसे ही अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी समा जाते हैं। एक मकान में जहाँ एक दीपक का प्रकाश व्याप जाता है वहाँ सैकड़ों दीपक का प्रकाश भी समा सकता है। एक सेर दूध से भरे लोटे में एक सेर चीनी समा जाती है। निविड़तम लोह पिण्ड में भी धमनी (Air Blower) की हवा से प्रेरित अग्नि के कण घुस जाते हैं और जब बुझाते हैं तब पानी के सूक्ष्म कण उसी लोह पिण्ड के अन्दर घुस जाते हैं। उपरोक्त स्पष्ट प्रमाणों से सिद्ध है कि पुद्गल परिणति की

विचित्रता ही अल्प और अधिक क्षेत्र के अवगाहन का कारण है।

काल—पुद्गलास्तिकाय काल से अनादि व अनन्त है।

भाव—पुद्गलास्तिकाय भाव से रूपी, रूप युक्त, मूर्त्त है।

गुण—पुद्गलास्तिकाय गुण से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श युक्त है और गलना मिलना स्वभाव वाली है।

हम जिनको आंखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, नाक से जिनको सूंघते हैं, शरीर से जिनको छूते हैं वे सब वस्तुयें पौद्गलिक हैं इसलिये पुद्गल द्रव्य का लक्षण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श बतलाया गया है। अतएव पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। मूर्त्तिमान वही द्रव्य हो सकता है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण होता हो। पुद्गल के सिवाय अन्य पांचों द्रव्य अमूर्त्त हैं, अरूपी हैं। उन पांचों में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं हैं इसीलिये हम आत्मा और धर्मास्तिकाय आदि को देख नहीं सकते। केवल ज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञान का विषय केवल पुद्गल द्रव्य ही है। अमूर्त्त द्रव्य सिर्फ केवल ज्ञान का ही विषय है। शब्द गन्ध सूक्ष्मता स्थूलत्ता छाया प्रकाश अन्धकार आदि सभी पुद्गल द्रव्य की अवस्था विशेष है।

शब्द।

शब्द पौद्गलिक है क्योंकि इसमें स्पर्श आदि पुद्गल के लक्षण विद्यमान हैं। पत्थर स्पर्श युक्त है, उसके संघर्ष से शब्द उठता है उसी प्रकार शब्द के टकराने से गुफा

आदि से प्रतिनाद उठता है। टेलीफोन, टेलीग्राफ, वायरलेस, फोनोग्राफ आदि से शब्द का पौद्गलिकत्व स्पष्ट ही है। यन्त्र सिर्फ मूर्त्त द्रव्य को ही ग्रहण कर सकते हैं, अमूर्त्त द्रव्य को नहीं। पुद्गल के सिवाय अन्य सब द्रव्य अमूर्त्त है। अतः शब्द पौद्गलिक है।

बन्ध।

बंध भी पौद्गलिक है। बंध का अर्थ है एकत्व परिणाम। इस एकत्व परिणाम अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध से ही पौद्गलिक स्कन्ध बनता है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सम्बन्ध होने में स्निग्धत्व-चिकनापन और रुक्षत्व-रूखापन की अपेक्षा रहती है, क्योंकि केवल संयोग मात्र से परमाणुओं के द्वि-अणु आदि स्कन्ध नहीं बनते। स्निग्धत्व और रुक्षत्व पूर्व कथित आठ स्पर्शों में से दो स्पर्श है। स्पर्श पुद्गल का स्वभाव है, इसलिये बन्ध भी पुद्गल की एक अवस्था है। अमूर्त्त द्रव्यों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे अविभाज्य हैं, उनके कोई पृथक् भाग नहीं। केवल पुद्गल द्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है जो कि एक दूसरे के साथ मिलता है। जब अनन्त परमाणु मिलते हैं तब अनन्त प्रदेशी स्कन्ध बन जाता है। कई अनन्त प्रदेशी स्कन्धों से किसी स्थूल वस्तु का निर्माण हो जाता है।

सूक्ष्मता स्थूलता ।

सूक्ष्मता व स्थूलता भी पुद्गल में ही प्राप्त होती है। पुद्गल के सिवाय अन्य द्रव्य छोटे बड़े हल्के भारी नहीं है। पौद्गलिक वस्तु कोई छोटी होती है कोई बड़ी, कोई हल्की होती है कोई भारी। जिस वस्तु के पुद्गल अधिक फैले हुए होते हैं वह बड़ी कहलाती है और जिस वस्तु के पुद्गल संकुचित होते हैं वह छोटी कहलाती है। लघुस्पर्श वाली वस्तु का वजन कम होता है अतः वह हल्की कहलाती है और गुरु स्पर्श वाली वस्तु का वजन अधिक होता है अतः वह भारी कहलाती है।

छाया।

छाया भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक पदार्थों के पुद्गल प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। पौद्गलिक वस्तुयें चय अपचय धर्म वाली और रश्मि युक्त होती है— "चयापचय धर्मकं रश्मिवच्च। रश्मय :– छाया पुद्गल संततिः"—अर्थात् प्रतिक्षण उनमें से रश्मियां[1] निकलती रहती है जो अपने अनुकूल सामग्री को पाकर उसी रूप में परिणत हो जाती है इस पौद्गलिक परिणति का नाम छाया है। अस्वच्छ पदार्थ में होने वाली छाया दिन को श्याम और रात को काली होती

१ रश्मियां—किरणें Rays.

है तथा स्वच्छ पदार्थ में छाया अपने अपने आकार के जैसी ही होती है।

प्रकाश-अन्धकार।

प्रकाश भी पौद्गलिक ही है। अन्धकार पदार्थ प्रतिरोधक (आच्छादक) पुद्गल है। अन्धकार प्रकाश का अभाव नहीं परन्तु प्रकाश का विरोधी भावात्मक द्रव्य है। जैसे सघन वर्षा के आसार से अन्य पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं केवल आसार ही आसार नजर मे आने लग जाता है वैसे ही सघन अन्धकार भी अन्य पदार्थों को आच्छादित कर देता है और अन्धकार ही अन्धकार नजर में आता है। दिवाल छत आदि जैसे अपने से भिन्न वस्तुओं को ढकने वाले होते हुए भावात्मक भी है वैसे ही अन्धकार भी पदार्थों को ढकने वाला भावात्मक द्रव्य है। वर्षा बन्द होने से व दिवाल आदि के फट जाने से परे की वस्तु दीखने लग जाती है वैसे ही अन्धकार का नाश होने से समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर होने लग जाते हैं। अन्धकार अभावात्मक तो हो ही कैसे सकता है क्योंकि उसका काला रंग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। जिसका अस्तित्व ही नहीं उसमें वर्ण भी नहीं हो सकता। अतः अन्धकार पौद्गलिक ही है।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का दिग्-

दर्शन कराने के बाद यह बतलाया जाता है कि पुद्गल का संसारी आत्माओं के साथ कितना घनिष्ट सम्बन्ध है और किस किस प्रकार यह संसारी आत्माओं के काम आता है।

"द्रव्य निमित्तं हि संसारिणां वीर्य मुपजायते"—अर्थात् संसारी जीवों का जितना भी वीर्य पराक्रम है वह सब पुद्गलों की सहायता से होता है। पुद्गल किस प्रकार संसारी जीवों के व्यवहार में आते हैं इसे समझने के लिये भिन्न भिन्न पुद्गल वर्गणाओं को जान लेना जरूरी है।

वर्गणा समान जाति वाले पुद्गल स्कन्धों को कहते हैं। वर्गणायें अनेक प्रकार की है जैसे मनोवर्गणा, शरीरवर्गणा, औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्मण वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा। जिस पुद्गल समूह की सहायता से आत्मा विचार करने में प्रवृत्त होती है उसको मनो-वर्गणा कहते हैं। जिस पुद्गल समूह की सहायता से आत्मा बोलने में प्रवृत्त होती है उसको भाषा वर्गणा कहते हैं। जिस पुद्गल समूह की सहायता से आत्मा के हलन चलन की क्रिया होती है उसको शरीर वर्गणा कहते हैं। जिस पुद्गल समूह से हमारा शरीर बनता है उसे औदारिक वर्गणा कहते हैं। जिस पुद्गल समूह से इच्छानुसार हम आकृतियों को बदल सकें—ऐसा शरीर बनता है उसे वैक्रिय वर्गणा कहते हैं। जिस पुद्गल समूह से एक विचित्र शक्ति वाला पूतला बनाया जाता है उसे आहारक वर्गणा कहते हैं। एक विशिष्ट योग-शक्ति वाले योगी को जब कोई व्यक्ति

गहन विषय का प्रश्न पूछता है और वह योगी उसे उत्तर देने में असमर्थ हो तब आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर वह योगी एक सुन्दर आकृति का पूतला बनाता है और उसे सर्वज्ञ के पास भेजकर उस प्रश्न का उत्तर मंगवाता है। पूतला प्रश्न का उत्तर लेकर वापिस लौट आता है। इस प्रकार योगी प्रश्न-कर्त्ता को समुचित उत्तर दे देता है। ये सब क्रियायें इतने कम समय मे होती है कि पूछने वाले को यह पता ही नहीं लगता कि मैंने अपने प्रश्न का उत्तर कुछ विलम्ब से पाया है। जिस पुद्गल समूह से तैजस शरीर बनता है उसे तैजस वर्गणा कहते हैं। जिस पुद्गल समूह से कार्मण शरीर बनता है उसे कार्मण वर्गणा कहते हैं। श्वासोच्छ्वास रूप में जिन पुद्गलों का समूह ग्रहण किया जाता है उसे श्वासोच्छ्वास वर्गणा कहते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ९० तत्वों (Elements) का पुद्गल द्रव्य मे समावेश हो जाता है। वैज्ञानिकों की परिभाषा में तत्व वे पदार्थ हैं जो किसी भी रसायनिक क्रिया से अपने स्वरूप और धर्म का परित्याग नहीं करते। सोना चांदी लोहा गन्धक पारा तत्व है। इनको गरम या ठण्डा करके तरल व वाष्पीय बना सकते हैं पर इनमें से कोई दूसरा पदार्थ नहीं निकल सकता। लोहा लोहा ही रहेगा और गन्धक गन्धक ही। दूसरा कोई पदार्थ जो तत्वों के मेल से बनता है उसे मिश्र (Compounds) कहते हैं जैसे पानी मिश्र है। पानी के एक अणु में दो परमाणु हाइड्रोजन (Hydrogen) और एक

परमाणु आक्सीजन (Oxygen) का होता है। तत्व और मिश्र (Elements and compounds) ये दोनों वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त हैं अतः पुद्गल द्रव्य हैं। अन्य दार्शनिक जिन मूर्त्तिमान वस्तुओं के लिये भौतिक शब्द का प्रयोग करते हैं जैन दर्शन उनके लिये पौद्गलिक शब्द का प्रयोग करता है।

जीवास्तिकाय।

जीव—प्राण धारण करने वाला, अस्ति प्रदेश, काय—समूह = जीवास्तिकाय।

प्रश्न—प्राण धारण करने वाले ही जीव हैं इस परिभाषा में मुक्त आत्माओं का समावेश कैसे हो सकता है?

उत्तर—प्राण दो तरह के होते हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण तो दश हैं जो छठे बोल में बतलाये जा चुके हैं। भाव प्राण ज्ञान दर्शन आदि हैं। संसारी जीवों में दोनों ही प्रकार के प्राण पाये जाते हैं। मुक्त जीवों में सिर्फ भाव प्राण होते हैं।

जीव द्रव्य से अनन्त द्रव्य, क्षेत्र से लोक प्रमाण, काल से अनादि अनन्त, भाव से अरूपी, और गुण से चेतना युक्त है।

जीव के प्रदेश असंख्य हैं। ऐसे असंख्य प्रदेश वाले जीव अनन्त हैं, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि की तरह असंख्य प्रदेशात्मक एक ही अविभाज्य पिण्ड नहीं। इसलिए जीवास्तिकाय को द्रव्य रूप से अनन्त द्रव्य कहा गया है।

जीवास्तिकाय को लोक प्रमाण कहने का मतलब यह नहीं कि एक ही आत्मा सकल लोक में व्यापक है परन्तु इसका आशय यह है कि लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ कि एक भी आत्मा उपलब्ध न हो।

आत्मा न तो कभी उत्पन्न हुई और न कोई आत्मा को उत्पन्न ही करने वाला है। अतः आत्मा अनादि है। जिस चीज की आदि नहीं उसका अन्त भी नहीं हो सकता इसलिये आत्मा अनन्त भी है।

आत्मा अमूर्त्त है तो भी स्वयं वेदन—अपने पन का अनुभव आदि से आत्मा का स्पष्ट रूप से भान होता है। यदि आत्मा न हो तो "मैं हूं" ऐसा ज्ञान किसे होगा? अनुमान से भी आत्मा का अस्तित्व मानना पड़ता है। जब हमें अचेतन पदार्थ उपलब्ध हो रहा है तो अवश्य उसका विरोधी कोई चेतन द्रव्य मिलना चाहिये, क्योंकि प्रतिपक्ष पदार्थ के बिना सिर्फ एक द्रव्य का अस्तित्व टिक नहीं सकता। यदि चेतन कोई द्रव्य ही नहीं तो फिर न-चेतन अचेतन—इस शब्द का अर्थ सृजन किसके आधार पर किया गया? अत्यन्ताभाव तभी दिखाया जाता है जब कि उसका कोई विरोधी पदार्थ होता है। चेतन और अचेतन में अत्यन्ताभाव है। अतः चेतन द्रव्य का अस्तित्व भी अनिवार्य है।

जीव का गुण चैतन्य है। जीव के असंख्य प्रदेश हैं वे सब के सब चेतना युक्त हैं। जीव असंख्य ज्ञानमय प्रदेशों का एक

अविभाज्य पिण्ड है, किन्तु यह नहीं कि असंख्य आत्मायें मिल कर एक आत्मा बनती है। प्राणी मात्र में अनन्त ज्ञान विद्यमान है परन्तु वह कर्म के आवरण से ढका हुआ रहता है। कर्म का आवरण जितना बलवान होता है, ज्ञान उतना ही अधिक दब जाता है और आवरण ज्यों ज्यों दुर्बल होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान का आविर्भाव होता जाता है। जब आवरण का सर्वथा अभाव हो जाता है तब आत्मा सर्वज्ञ बन जाती है। आवरण का आत्मा पर अधिक से अधिक आधिपत्य होने पर भी आत्मा में अल्प मात्रा में तो ज्ञान अवश्य ही प्रगट रहता है। यदि ज्ञान सर्वथा आच्छन्न हो जाय तो फिर जीव अजीव में अन्तर ही क्या रहे? एक इन्द्रिय वाले जीव में भी मति ज्ञान व श्रुत ज्ञान का क्षयोपशम उपलब्ध है। अतः चेतना गुण के द्वारा आत्मा का स्पष्ट रूप से ज्ञान किया जाता है और यह गुण त्रिकाल-वर्त्ती है।

आत्मा के दो भेद हैं—सिद्ध और संसारी। सिद्ध आत्मायें सब समान हैं। संसारी आत्मायें कर्म युक्त हैं। वे कर्मों की स्वयं कर्त्ता हैं, कर्म फल भोक्ता हैं, स्वदेह परिमाण हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देह परिमाण है। आत्मा न तो आकाश की भाँति व्यापक है और न अणुरूप। जब आत्मा को छोटा शरीर मिलता है तब वह सूखे चमड़े की भाँति संकुचित हो जाती है और जब उसे बड़ा शरीर मिलता है तब उसके प्रदेश जल में तेल बिन्दु की तरह फैल जाते हैं। आत्मा

के प्रदेशों का संकोच और विस्तार बाधित नहीं है। दीपक के प्रकाश से इसकी तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दे तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक शरीर में रहती है वही आत्मा युवा शरीर में रहती है और वही वृद्ध शरीर में। स्थूल शरीर व्यापी आत्मा कृश शरीर व्यापी हो जाती है। कृश शरीर व्यापी आत्मा स्थूल शरीर वाली हो जाती है अतः आत्मा का संकोच और विकास का स्वभाव स्वतः सिद्ध है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर प्रमाण मानने से वह अवयव सहित हो जायगी और अवयव सहित हो जाने से वह अनित्य हो जायगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है वह विशरण शील अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है अतः अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव सहित होता है वह विशरण शील ही होता है जैसे घड़े का आकाश पट का आकाश-इत्यादिक रूपता से आकाश स-अवयव है और नित्य है वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से

इकट्ठे होते हैं वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य व अनित्य नहीं हैं, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं कभी विकसित रहते हैं कभी सुख में कभी दुख में इत्यादिक कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद् से सावयवता भी आत्मा के शरीर परिमाण होने में वाधक नहीं है।

व्यवहारिक रूप में पहिचान के लिये जीव के ये भी लक्षण बतलाये गये हैं जैसे—सजातीय जन्म, वृद्धि और सजातीय उत्पादन। विजातीय पदार्थ का आदान एवं स्वरूप में परिणमन अर्थात् ग्रहण और उत्सर्ग।

सजातीय जन्म अर्थात् अपने ही प्रकार के किसी के शरीर से उत्पन्न होना। सजातीय वृद्धि अर्थात् उत्पन्न होने के बाद बढ़ना। सजातीय उत्पादन अर्थात् अपने ही समान किसी को उत्पन्न करना। विजातीय पदार्थ का आदान एवं स्वरूप परिण-मन का अर्थ है विजातीय आहार को ग्रहण करना और उसे पचा कर अपनी धातु के रूप में परिणत करना। जड पदार्थों में विजा-तीय द्रव्य का स्वीकरण एवं परिणमन नहीं देखा जाता। प्राण धारियों में विजातीय वस्तु का जैसे ग्रहण होता है वैसे उत्सर्ग भी।

उपरोक्त लक्षण प्राणियों में ही मिलते हैं अप्राणियों में नहीं। ये लक्षण समस्त प्राणी मात्र में नहीं मिला करते इसलिये उपलक्षण हैं।

कई दार्शनिक, जीव को भी एक प्रकार का सर्व श्रेष्ठ यन्त्र सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसे अनेक यन्त्र हैं जो नियमित रूप से अपना अपना काम करते हैं इसी प्रकार मनुष्य या प्राणी भी एक सब से निपुण यन्त्र है जो अपना काम करता रहता है। आत्मा नाम की कोई स्थिर वस्तु नहीं है—इस युक्ति की दुर्बलता को बताने के लिये उपरोक्त उपलक्षण उपयोगी है। यन्त्र चाहे कैसा भी अच्छा क्यों न हो किन्तु न तो वह अपने सजातीय यन्त्रों की देह से उत्पन्न होता है और न उत्पन्न होने के बाद बढ़ता है और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न ही करता है। इसलिये आत्मा और यन्त्र की स्थिति एक जैसी नहीं। इनके अतिरिक्त खाना पीना आदि आत्मा का कोई व्यापक लक्षण नहीं। इंजिन भी खाता है पीता है तो भी जीव नहीं। मुक्त जीव न खाते हैं न पीते हैं तो भी जीव हैं। इस प्रकार और भी अनेक लक्षण जीव की पहिचान कराने को प्रस्तुत किये जा सकते हैं परन्तु उन सब में जीव का व्यापक लक्षण चैतन्य ही है। कोई भी ऐसा जीव नहीं जिसमें चैतन्य न हो। एक इन्द्रिय वाले जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव में, मन सहित जीव में, अतीन्द्रिय जीव में, प्रत्यक्ष ज्ञान वाले जीव में,—सभी में न्यूनाधिक रूप से चैतन्य या ज्ञान की मात्रा तीनों ही काल में

निश्चित रूप से मिलेगी। इसका अर्थ यह नहीं कि जो बुद्धिमान होता है वही जीव है। बुद्धिमान ज्ञान के अधिक विकास से कहलाता है पर चैतन्य का अर्थ बुद्धिमान होना नहीं, उसका अर्थ है जिस तिस मात्रा में भी अनुभव करने की शक्ति का होना। कम से कम अनुभव रूप ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा में मिलेगा ही। सारांश यह है कि जिस में अनुभव करने की शक्ति होती है वह आत्मा है और जिस में अनुभव करने कि शक्ति नहीं होती वह आत्मा भी नहीं होती। अतएव आत्मा का लक्षण चैतन्य है और वह सब आत्माओं में व्याप्त है।

बोल इक्कीसवाँ

राशि दो—

(१) जीव राशि, (२) अजीव राशि।

जैन दर्शन में तात्विक विवेचन विकसित व संकुचित दोनों तरह का उपलब्ध है। संकुचित शैली जीव तथा अजीव इन दो ही तत्वों का विधान करती है और ज्यों ज्यों वह विकास की ओर आगे बढ़ती हैं त्यों त्यों उनकी उपयोगिता बतलाने के लिये षट् द्रव्य तथा नव तत्व का विधान करती है। षट् द्रव्य में मुख्य-तया अजीव का वर्णन है और नवतत्व में प्रधानतया जीव का वर्णन है। षट् द्रव्य में जीव की गति, स्थिति आदि में सहायक

धर्मास्ति, अधर्मास्ति काय आदि का विवेचन है और नव तत्व में मोक्ष साधन की आलोचना है।

प्राणी मात्र का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की साधना पर ही धर्म की सृष्टि जीवित है। अनादि काल से कर्माच्छन्न आत्मा जब अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये लालायित हो उठती है तब वह विचारती है कि—मैं अपने असली स्वरूप को नहीं जानती इसका कारण क्या? खोज करते करते उसे पता चलता है कि मेरा प्रतिपक्षी अजीव ही मेरे स्वरूप पर पर्दा डाले हुए है। अजीव के पांच भेदों में से सिर्फ पुद्गल ही मुझे आवृत्त कर रहा है। यह पुद्गल क्या दूर ही से अपना काम कर लेता है या मेरे साथ गाढ़ सम्बन्ध स्थापित करके? युक्ति के बल पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल दूर रह कर कुछ नहीं कर सकता परन्तु मेरे साथ (आत्मा) एकी भाव करके, घुलमिल करके अपना प्रभाव डालता है। मेरे पर एक प्रकार का आवरण पर्दा डाल देता है। वह आवरण सुख या दुःख देने के रूप में अथवा ज्ञान आदि को ढकने के रूप में परिणत हो जाता है। पुद्गल स्वयं मेरे साथ गाढ़ सम्बन्ध नहीं कर सकता किन्तु मैं ही उसे अपनी प्रवृत्ति व मलिनता के द्वारा सम्बन्धित होने के लिये बाध्य करता हूँ। अब मैं समझ पाया हूँ कि लालसा को पूर्ण करने का अनुपम साधन त्याग भावना है। त्याग भावना से मेरे साथ पुद्गलों का सम्बन्ध होने का रास्ता रुक जाता है। जो पुद्गल पहले से ही मेरे साथ सम्बन्धित है वह भी शुद्ध प्रवृत्ति के

द्वारा क्षीण किया जा सकता है। सम्बन्धित पुद्गलों का नाश हुए बिना मेरा शुद्ध स्वरूप प्रकट हो नहीं सकता।

नव तत्वों का विधान उपरोक्त विचार धारा की पुष्टि के लिये ही किया गया है। जीव अजीव दो मुख्य तत्व हैं। आत्मा के साथ पुद्गल का जो सम्बन्ध होता है वह बन्ध है। सुख देने वाला पुद्गल समूह पुण्य तत्व है। दुःख देने वाला और ज्ञान आदि को रोकने वाला पुद्गल समूह पाप-तत्व है। आत्मा की प्रवृत्ति व मलिनता ही आश्रव है। त्याग भावना संवर है। कर्म आवरण क्षीण होना निर्जरा है। सर्वथा सम्पूर्ण रूप से आवरण क्षीण हो जाना मोक्ष है।

षट् द्रव्य व नव तत्व का समावेश जीव राशि व अजीव राशि में हो जाता है। धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्य अजीव राशि में तथा जीवास्तिकाय जीव राशि में है। नव तत्वों में—जीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये पांच जीव राशि में हैं और अजीव, पुण्य, पाप, बंध ये चार अजीव राशि में हैं।

बोल बावीसवाँ

श्रावक के बारह व्रत —

(१) अहिंसा अणुव्रत (२) सत्य अणुव्रत (३) अस्तेय अणुव्रत, (४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत (५) अपरिग्रह अणुव्रत

(६) दिग्विरति व्रत (७) भोगोपभोग परिमाण व्रत (८) अनर्थ दण्ड विरतिव्रत (९) सामायिक व्रत (१०) देशावकाशिक व्रत (११) पौषध व्रत (१२) अतिथि संविभाग व्रत ।

आचरण की विशुद्धता-पवित्रता ही मानव जीवन का सर्वस्व है। जैन दर्शन में जैसा सम्यक्-ज्ञान का महत्व है वैसा ही सम्यक्-क्रिया, सद्-आचरण का भी है। "सम्यग् ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" सिर्फ ज्ञान व सिर्फ आचरण से मोक्ष की साधना नहीं होती किन्तु दोनों के उचित संयोग से होती है। "नेगेण चक्केण रहो पयाई"—एक चक्के से रथ नहीं चल सकता।

जैन विचार धारा शक्यता अशक्यता को ध्यान मे रखते हुए धार्मिक जीवन को दो श्रेणी में विभक्त करती है साधु व श्रावक अथवा महाव्रत व अणुव्रत।

साधु-महाव्रत पालन करता है। महाव्रत में अशक्यता को कोई स्थान नहीं। साधु जीवन में तो पूर्ण रूपेण जीवन पर्यन्त अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का पालन करना पड़ता है। महाव्रतों का विवेचन तेवीसवें बोल में किया गया है। श्रावक जीवन में, गृहस्थ जीवन में अणुव्रत पालन का नियम है। निष्क्रियता का नाश करने के लिये यथाशक्ति-अपनी शक्ति सामर्थ्य अनुसार धार्मिक क्रिया करने का विधान किया गया है। अल्प शक्ति वाले, कम सामर्थ्य वाले कहीं यह न समझ बैठें कि शक्ति न रहने

के कारण हम कुछ भी नहीं करते—ऐसे लोगों को उत्साहित करने के लिये, धार्मिक जीवन में प्रवेश कराने के लिये श्रावक व्रतों का निर्माण किया गया है। जिनमें शक्ति का विकास अल्प है, कम है उनके लिये यथाशक्ति क्रिया करने का विधान परम उपयोगी है। इसी उद्देश्य पूर्त्ति के लिये बारह व्रतों का निर्माण हुआ है।

प्रस्तुत बोल में बारह व्रत का संक्षिप्त वर्णन है। विशेष जानकारी के लिये श्री मद् भिक्षु स्वामी रचित "बारह व्रत चौपई" ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

(१) अहिंसा अणुव्रत।

श्रावक व गृहस्थ छोटे बड़े जीव की मानसिक, वाचिक व कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकता परन्तु वह कुछ अंशों में हिंसा का त्याग जरूर कर सकता है। अपनी शक्ति अनुसार हिंसा का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है। चलते फिरते निरपराध निर्दोष प्राणियों का जान बूझ कर मार डालने का त्याग तो साधारण से साधारण विवेक वाला व्यक्ति भी कर सकता है। इस प्रकार स्थूल हिंसा का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है।

(२) सत्य अणुव्रत।

साधारण मानव सम्पूर्ण रूप से झूठ बोलने का त्याग नहीं कर सकता परन्तु यदि वह सावधानी रखे

तो विना मतलब, विना स्वार्थ, बिना प्रयोजन झूठ बोलने का त्याग जरूर कर सकता है। इतना भी यदि न हो सके तो कम से कम ऐसे झूठ का अवश्य त्याग कर सकता है जिससे विचारें किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो जावे। स्थूल झूठ का, सफेद झूठ का शक्ति अनुसार त्याग करना सत्य अणुव्रत है।

(३) अस्तेय अणुव्रत।

छोटी से छोटी चोरी भी न करे यह तो हरेक के लिये सम्भव नहीं परन्तु डाका डाल कर, ताला तोड़ कर लूट खसोट कर बड़ी चोरी का त्याग करना कोई मुश्किल काम नहीं। इस प्रकार की स्थूल चोरी का त्याग करना अस्तेय अणुव्रत है। जिस चोरी से राजा दण्ड दे और लोग निन्दा करे ऐसी चोरी बड़ी घृणित वस्तु है। इसे छोड़ना प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का पावन कर्त्तव्य है। समाज हित के लिये भी अस्तेय व्रत जरूरी है।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत।

विलासिता कामुकता स्त्री सम्भोग की भी सीमा हद होनी चाहिये। इस सीमा को निर्धारित करने के लिये ही ब्रह्मचर्य अणुव्रत का निर्माण किया गया है।

वेश्या गमन व पर-स्त्री संभोग का त्याग करना व अपनी स्त्री के साथ भी कुछ समय तक संभोग त्याग

करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है इसी प्रकार स्त्री भी अपने पति के साथ संभोग करने के सिवाय पर पुरुष सम्भोग का त्याग करती है और अपने पति के साथ भी मर्यादित संभोग करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। यह व्रत एक करण, एवं एक योग से ग्रहण किया जाता है। इस व्रत को पालन करने में मन पर बड़ा कठोर नियन्त्रण रखना पड़ता है। स्वास्थ्य के लिये भी ब्रह्मचर्य पालन करना जरूरी है।

अपरिग्रह-अणुव्रत।

सोना चांदी जेवर मकान धन सम्पदा आदि सब परिग्रह हैं। इस परिग्रह संचय में अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित त्याग करना अपरिग्रह अणुव्रत है। दुनियां में धन दौलत सम्पदा ऐश्वर्य की सीमा नहीं। मानव ज्यों ज्यों इनका संचय करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती हुई लालसा को रोकने के लिये इस अपरिग्रह अणुव्रत का विधान किया गया है। कहीं न कहीं तो आदमी को संतोष करना ही चाहिये।

उपरोक्त पांच अणुव्रत हैं और इनकी पुष्टि के लिये क्रमशः तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत है।

(६) दिग्विरति व्रत

अपनी त्याग वृत्ति के अनुसार पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर हर तरह के सावद्य कार्य से निवृत्ति धारण करना दिग्विरति व्रत है।

(७) भोगोपभोग परिमाण व्रत।

जैन दर्शन में पन्द्रह प्रकार के कर्मादान[१] और छब्बीस प्रकार के भोगोपभोग का वर्णन है। इनकी प्रवृत्ति में मर्यादा करना, परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

(८) अनर्थ दण्ड विरति व्रत।

अपने प्रयोजन के लिये, मतलब के लिये, स्वार्थ के लिये मानव पाप कर्म करता है, अधर्म व्यापार करता है, यह स्वाभाविक है परन्तु बिना प्रयोजन बिना स्वार्थ व्यर्थ में अधर्म व्यापार करना बुरे काम करना कहाँ तक उचित है? बिना मतलब निरर्थक किसी पाप कार्य में प्रवृत्ति न करना, प्रवृत्ति करने का त्याग करना अनर्थ दण्ड विरति व्रत है।

---

१ पन्द्रह कर्मादान और छबीस भोगोपभोग क्या है—इनकी जानकारी के लिये श्रीयुत् छोगमलजी चोपड़ा द्वारा सम्पादित 'श्रावक बारह व्रत' पुस्तक देखनी चाहिये।

(६) सामायिक व्रत।

अमुक समय तक पाप मय सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करके धार्मिक कार्य में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। सम का अर्थ है समता, आय का अर्थ है लाभ। इसके आगे संस्कृत भाषा का इकण प्रत्यय आने से सामायिक शब्द बनता है। एक सामायिक का समय ४८ मिनट है।

(१०) देशावकाशिक व्रत।

अवधि सहित त्याग करना देशावकाशिक व्रत है। पहिले के सात व्रतों में जो त्याग किये जाते हैं वे जीवन-पर्यन्त होते हैं परन्तु जो त्याग दो चार वर्ष आदि की मर्यादा सहित हों वे सब दशवें व्रत में समाविष्ट हो जाते हैं।

(११) पौषध व्रत।

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावश्या समत्सरी तथा अन्य कोई भी तिथि में उपवास धारण करके, सब प्रकार की शारीरिक भेष विभूषा को छोड़ते हुए कम से कम चार प्रहर तक धर्म ध्यान में बिताना पौषध व्रत है। चौविहार उपवास के बिना पौषधव्रत नहीं होता। तिविहार उपवास करके जो आठ प्रहर तक या अधिक समय तक धर्म ध्यान ठीक पौषध की तरह किया जाय वह देशावकाशिक व्रत में शुमार

होता है, पौषध व्रत में नहीं। पौषध व्रत चौविहार उपवास के साथ ही हो सकता है। पौषध का समय चार प्रहर या आठ प्रहर का है।

(१२) अतिथि संविभाग व्रत।

साधु को हर वक्त शुद्ध दान देने की भावना रखना प्रत्येक श्रावक श्राविका का पावन कर्त्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु बनाना, अपने लिये बनायी जाने वाली वस्तु में साधु के निमित्त कुछ अधिक बना लेना आदि कार्यों द्वारा अशुद्ध दान देने से हर वक्त दूर रहना चाहिये। शुद्ध साधु को अशुद्ध दान देने का त्याग करना अतिथि संविभाग व्रत है।

व्रतों की उपयोगिता।

श्रावक व्रतों का धार्मिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, किन्तु सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी इनकी उपयोगिता कम नहीं।

हिंसा की भावना से परस्पर में वैमनस्य फैलता है। वैमनस्य से विरोधी भावना बलवती बनती है। विरोधी भावना से बड़े बड़े साम्राज्यों में मैत्री भावना स्थापित नहीं हो पाती। मैत्री भावना के बिना कोई भी राष्ट्र उन्नत नहीं बन सकता। अतः हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का यही वास्तविक उद्देश्य है। "मित्ति में सव्व भूयेसु वेरं मज्झ न केणइ" सब प्राणियों के प्रति मेरी मैत्री है, किसी के प्रति वैर भावना नहीं।

दूसरों के हकों पर अनधिकार हक जमाने से, लूट खसोट करने से, डाका डालने से, सैनिक आक्रमण करने से, ताला आदि तोड़कर उसको लूटने से अशान्ति का जहरीला वातावरण पैदा होता है। शान्ति भाग जाती है। सारी जनता तिलमिला उठती है प्राणों के होते हुए भी निष्प्राण बन जाती है। चारों तरफ भय का बोलवाला छा जाता है। अतः चिरस्थायी शान्ति व अमन चैन रखने के लिए चोरी डाके का त्याग करना सबके लिये अनिवार्य है। श्रावक के अस्तेय व्रत का यही उद्देश्य है। चोरी एक प्रकार का सामाजिक विष है। समाज उन्नति के लिये इस विष का नाश करना हरेक मानव का कर्त्तव्य है।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है। ब्रह्मचर्य के बिना आत्मा निःसत्व, बलहीन, दीन व सुपुप्त बन जाती है। ब्रह्मचारी का आत्म विश्वास अटल रहता है। उसे न्याय मार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी में शारीरिक बल न रहने पर भी आत्म बल बड़ा जबर्दस्त होता है। ब्रह्मचारी नवजीवन का संचार करता है। मृतप्राय जनता को जागरुक बना सकता है। ब्रह्मचारी का एक एक वाक्य प्रभावशाली होता है। सारी दुनिया टकटकी लगाये उसकी प्रतीक्षा करती रहती है। समाज की उन्नति के लिये कतिपय अंशों में ब्रह्मचर्य को अपनाना ही होगा।

धन धान्य आदि चीजों को बिना जरूरत इकट्ठी करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। राष्ट्रवादी कहते हैं कि एक

तो कुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र—ऐसी अवस्था हम देखना नहीं चाहते। अपरिग्रह व्रत भी हमें यही पाठ सिखाता है। अनावश्यक चीजों का संग्रह करना तो दूर रहा, जरूरत की चीजों में भी यथाशक्य कमी करो।

राष्ट्रवादी कहते हैं कि अपने देश के उद्योग वृद्धि के लिये विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से राष्ट्रवादियों का यह प्रयत्न बड़ी अच्छी तरह सफल हो सकता है। वह व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त किसी भी देश की बनी हुई वस्तु मैं काम में न लाऊंगा। इतनी वस्तुओं से अधिक को काम में न लाऊंगा। सातवें व्रत के नियम केवल आत्म कल्याण के लिये किये जाते हैं। देश उन्नति तो स्वयं ही हो जावेगी।

गृहस्थ को अपने स्वार्थ के लिये सब कुछ करना पड़ता है। आठवां व्रत हमें यह सिखाता है कि कम से कम अनर्थ पाप से तो बचो। बिना प्रयोजन चलते फिरते किसी को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, बिना मतलब पानी ढोलना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, बत्ती को जलाकर छोड़ देना, घी तेल के बर्तनों को उघाड़ा रख देना—इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं जिनसे बचना या परहेज करना नागरिक दृष्टि से तो प्रशंसनीय है ही, आत्म कल्याण के लिए भी परम उपयोगी है।

निवृत्ति सबसे बड़ा सुख है। प्रवृत्ति में, घर के झंझटों में, गृहस्थी के काम धन्धों में मोह वश मानव सुख की कल्पना करता है पर वह वास्तव में सुख नहीं। निवृत्ति का सुख साधु जीवन में पूर्ण रूप से है। गृहस्थ भी निवृत्ति के सुख से वंचित न रह जाय इसलिए नवमें व्रत का विधान किया गया है। एक मुहूर्त्त तक संसारिक सब झंझटों को त्याग कर स्वाध्याय, व्याख्यान, आत्म चिन्तवन आदि क्रिया सहित सामायिक करने से वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है।

दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिये दशवां व्रत है। खाने पीने या भोग्य पदार्थों की दुनियाँ में कमी नहीं। मानव लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक व्यवहार करता है। परन्तु इससे शारीरिक एवं मानसिक दोनों तरह की हानि होती है। दशवां व्रत हमें सिखाता है कि भोग्य पदार्थों की असारता को समझ कर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि सहित ही करो यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक एक दिन के लिये करो। या इससे भी कम समय के लिये करो। इससे आत्म कल्याण तो होगा ही पर साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी। आत्म बल बढ़ेगा।

ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध व उपवास करना ही चाहिये। इससे आत्मिक आनन्द का वास्तविक अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

वारहवाँ व्रत साधु को दान देने का उपदेश देता है। अपने खाने पीने पहिनने व अन्य वस्तु का कुछ विभाग मुनि को दान देना श्रावक का परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार दान से जो कमी हो उसकी पूर्त्ति के लिये हिंसा आदि न कर आत्म संयम करना चाहिये। गृहस्थ के लिये तो भोजन वनाया जा सकता है मोल भी लिया जा सकता है परन्तु साधु ऐसे आहार को कदापि ग्रहण नहीं करेगा। अत. श्रावक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने लिये वनायी हुयी वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह पात्र दान है। आत्म संयम है।

बोल तेवीसवाँ

साधु के पांच महाव्रत—

(१) अहिंसा महाव्रत, (२) सत्य महाव्रत, (३) अस्तेय महाव्रत, (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत, (५) अ-परिग्रह महाव्रत।

अहिंसा महाव्रत।

जव साधु दीक्षित होता है उस वक्त वह पांच महाव्रत आजन्म पालन करने की पुनीत प्रतिज्ञा करता है। तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान-त्याग करता है। करण का अर्थ है करना, कराना, अनुमोदन करना। योग का अर्थ है मन से, वचन से, काया से।

> पहले महाव्रत में जीव-हिंसा का सर्वथा त्याग किया जाता है। अतः साधु अपने खाने के लिये भोजन नहीं बना सकता और न दूसरों से बनवा सकता है। न भोजन बनाने वाले को अच्छा ही समझता है। पानी, वस्त्र, मकान आदि के सम्बन्ध में भी यही बात है। साधु छव काय के जीवों का पीहर है रक्षक है। अतः वह कोई भी काम ऐसा नहीं कर सकता जिससे छोटे से छोटे जीव को भी कष्ट हो।

गृहस्थ अपने लिये जो भोजन आदि बनाता है उसी भोजन का सूक्ष्म अंश भिक्षा वृत्ति द्वारा याचना कर साधु अपना जीवन निर्वाह कर लेता है।

भोजन जीवन का सर्व प्रथम साधन है। उसके बिना जीवन टिक नहीं सकता और भोजन हिंसा के बिना बनता नहीं। ऐसी स्थिति में अहिंसक साधु के लिए जीवन का और क्या चारा है? इसका उत्तर यह भी नहीं हो सकता कि हिंसा से बचने के लिए साधु न तो स्वयं पकाता है न दूसरों से पकवाता है और न साधु के लिए पकाने वाले को अच्छा ही समझता है। खैर! वह कुछ भी नहीं करता पर हिंसा से तैयार किये हुए भोजन को लेता तो है? गृहस्थ चाहे अपने खाने के लिये भोजन बनाता है पर उसमें हिंसा तो होती है और वह हिंसा निष्पन्न भोजन साधु के लिये आदेय है तब वह उस हिंसा जनित भोजन के दोष का भागी क्यों न बनेगा? हमें इस प्रश्न का यों समाधान

करना चाहिए कि हिंसा जनित वस्तु का ग्रहण उसी अवस्था में ग्राहक को हिंसा का दोषी वना सकता है जव कि उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उस हिंसा में कुछ हिस्सा हो।

जो व्यक्ति अपने निमित्त हिंसा से वनाये हुए भोजन को किसी भी अवस्था मे नहीं ले सकता वह उस हिंसा का भागी नहीं वन सकता। गृहस्थ अपने लिये हिंसा करता है साधु के लिये नहीं। अगर साधु के लिये कोई भोजन वना दे और साधु उसे असावधानी से ले ले तो साधु भी उस हिंसा से नहीं वच सकता। जिस वक्त गृहस्थ के घर से साधु भोजन पानी आदि वस्तुएं लाता है, उससे पहले उन वस्तुओं पर साधु का न तो कोई अधिकार ही होता है और न कोई सम्बन्ध भी। जबतक भोजन वनाने में हिंसा होती रहती है तवतक वह भोजन साधु के लिये अकल्पनीय रहता है और उसके तैयार हो जाने के बाद भी जवतक गृहस्थ अपनी इच्छा से नहीं दे देता तवतक साधु उसे ले नहीं सकता, क्योंकि अदत्त वस्तु का आदान चोरी है और वह साधु के लिये सर्वथा वर्जनीय है। अतएव उन वस्तुओं के साथ उसका (साधु का) सम्बन्ध गृहस्थ से उन चीजों को ग्रहण करने के समय ही होता है, उससे पहले नहीं। इस प्रकार साधु खान पान सम्बन्धी हिंसा से वचा रहता है।

साधु किसी को गाली नहीं दे सकता। मुष्टि प्रहार आदि का भी उपयोग नहीं कर सकता। हिंसा दो प्रकार की है देश हिंसा व सर्व हिंसा। जिस असत् प्रयत्न से किसी व्यक्ति की

आत्मा को कष्ट हो वह देश हिंसा है और जिस प्रयत्न से प्राण नाश होता है वह सर्व हिंसा है। साधु के लिये दोनों प्रकार की हिंसा सर्वथा त्याज्य है।

अहिंसक साधु रेल, मोटर, वायुयान, घोड़ा, बग्घी आदि वाहन को काम में नहीं ला सकता। रेल, मोटरकार आदि भाप से चलने वाले यानों (सवारियों) के द्वारा पानी अग्नि के जीवों की एवं चलते फिरते प्राणियों की भी हिंसा होती है। इसलिये उनमें चढ़ने वाले सब व्यक्ति हिंसा के भागी हैं। घोड़ा ऊंट आदि पशुओं के द्वारा भी हिंसा होती है एवं उनको कष्ट भी होता है। अतः अहिंसक साधु पैदल यात्रा करता है।

जैन दर्शन के अनुसार वायु के जीवों का शस्त्र वायुकाय ही है अर्थात् वायु के जीव वायु के सिवाय अग्नि पानी आदि किसी भी प्रयोग से नहीं मर सकते। बोलते समय मुख से हवा निकलती है, उस हवा से बाहर की हवा के जीव टकरा कर मर जाते हैं। परन्तु मुख के आगे हाथ या वस्त्र दे कर बोलने से शब्द के साथ उठने वाली हवा का वेग रुक जाता है और उस वायु के द्वारा जीवों की घात नहीं होती। अतः अहिंसक जैन साधु मुख-वस्त्रिका रखते हैं।

दिन के वक्त साधु देख कर चलते हैं। रात के वक्त आवश्यकता होने पर चलना पड़ता है। अन्धेरे में जीव जन्तु दीखते नहीं अतएव साधु हाथ में ओघा रजोहरण रखते हैं। ओघे

से जमीन को साफ करते हुए वे चलते हैं ताकि हिंसा से बचाव हो सके। जैन साधु छोटे से छोटे जीव को तकलीफ देना नहीं चाहते।

पृथ्वी में मिट्टी में भी जीव माने गये हैं। अतः जैन साधु ताजी खोदी हुई मिट्टी को नहीं छूते जबतक कि वह किसी विरोधी द्रव्य के संयोग से अचित्त—जीव रहित न हो गयी हो।

कूवे का जल, नदी का जल, तालाव का जल, वर्षा का जल सचित्त—जीव सहित होता है। इसे कच्चा जल कहा जाता है। जैन साधु ऐसे जल को कदापि स्वीकार न करेंगे, चाहे प्यास के मारे उनके प्राण ही क्यों न निकल जायें।

कच्चे जल को उबालने से, या उसमे राख आदि पदार्थ डालने से वह पक्का बन जाता है। साधु को यदि ऐसे उबले हुए पानी या राख मिले पानी का संयोग मिले तो वह ग्रहण करता है। पक्का जल अचित्त—जीव रहित होता है। पक्के जल को व्यवहार में लाने का कुछ वैज्ञानिक आधार भी है। बीमारी फैलाने वाले सूक्ष्म कीटाणु—Bacteria या आंत में पनपने वाले कृमि—Worms या बाले-नाहरुवा Guinea-worm आदि के अण्डे पक्के पानी में रह नहीं सकते। अतः साधु स्वतः इन भयङ्कर बीमारियों से बच निकलता है।

साधु अग्नि का भी प्रयोग नहीं करता। बिजली लालटेन टोर्च आदि से वह दूर रहता है। भयङ्कर शीत में सिकुड़ कर

साधु प्राण भले ही दे दे परन्तु वह जलती हुई अग्नि के पास जाकर अपने शरीर को गरम नहीं कर सकता।

हरे साग सब्जी फल आदि वनस्पतिकाय के जीव हैं। इनको खाना तो दूर रहा साधु इनका स्पर्श तक नहीं कर सकता। अग्नि से या नमक आदि विरोधी द्रव्यों के संयोग से वनस्पति अचित्त—जीव रहित हो जाती है। अचित्त होने पर साधु इसे ग्रहण कर सकता है।

सम्पूर्ण रूप से जीवन पर्यन्त अहिंसा का पालन करना पहला महाव्रत है।

दूसरे महाव्रत में असत्य बोलने का सर्वथा परित्याग किया जाता है। धर्म रक्षा या प्राण रक्षा के लिये भी मुनि असत्य नहीं बोल सकता। साधु ऐसा सत्य भी नहीं बोल सकता जिससे किसी की आत्मा को कष्ट पहुंचे। मुनि अदालत में, कोर्ट में (Court) शाक्षी भी नहीं दे सकता, क्योंकि सच्ची शाक्षी देने से भी दो में से एक व्यक्ति को अवश्य कष्ट होता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी असत् प्रवृत्ति द्वारा कष्ट देना हिंसा है। हिंसात्मक वचन असत्य है। हिंसा और असत्य का आचरण साधु के लिये वर्जनीय है।

तीसरे महाव्रत में चोरी करने का सर्वथा त्याग किया जाता

है। स्वामी की आज्ञा के बिना साधु किसी भी मकान में ठहर नहीं सकता और घर वालों की अनुमति के बिना किसी को दीक्षा भी नहीं दे सकता। अधिकारी की आज्ञा के बिना उसका एक तृण भी नहीं ले सकता।

चौथे महाव्रत में मैथुन—अब्रह्मचर्य का सर्वथा परित्याग किया जाता है। साधु स्त्री जाति का स्पर्श तक नहीं कर सकता चाहे वह उसकी मा या बहिन ही क्यों न हो। साधु स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठ सकता। ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करने के लिए श्री मद् भिक्षु स्वामी रचित—"शील की नववाड़" का अध्ययन करना जरूरी है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये कैसे नियम पालने चाहिए इसका विवेचन भिक्षु स्वामी ने किया है।

पाँचवें महाव्रत में परिग्रह का सर्वथा परित्याग किया जाता है। साधु जरूरी धर्मोपकरण के सिवाय और कोई भी चीज का संचय नहीं करता। धर्मोपकरण पर भी साधु ममता या मूर्च्छा नहीं करता।

प्रश्न—साधु के धर्मोपकरण—वस्त्र, पात्र, पुस्तकें परिग्रह क्यों नहीं?

उत्तर—जिस वस्तु का ग्रहण लोभ युक्त चित्त से किया जाता है उसका नाम परिग्रह है। साधु सिर्फ संयम निर्वाह के लिए जरूरी एवं परिमित वस्त्र, पात्र ग्रहण करता है। ऐसे उपकरण परिग्रह नहीं, प्रत्युत संयम के उपकारी

है। संयम में सहायक हैं। यदि इनको परिग्रह मान लें तो फिर साधु के शरीर को भी परिग्रह मानना पड़ेगा। जैसे वस्त्र, पात्र परिग्रह है वैसे ही शरीर भी परिग्रह है। वस्त्र पात्रों को हम परिग्रह मानें और शरीर को परिग्रह न मानें यह हमारा एक पक्षीय न्याय होगा। शरीर अनिवार्य है अतः यह परिग्रह नहीं है, यह उचित उत्तर नहीं। जो छोड़ा जा सकता है वही परिग्रह है—परिग्रह की यह परिभाषा भी ठीक नहीं। वास्तव में जो मूर्च्छा यानी ममत्त्व है वही परिग्रह है। मुनि न तो लोभ से वस्त्र पात्र ग्रहण करता है न उन पर ममता रखता है और न अमित संचय ही करता है। अतः साधु के धर्मोपकरण परिग्रह नहीं।

इन पाँच महाव्रतों के अलावा एक छठा व्रत और भी माना जाता है। इसमें जीवन पर्यन्त रात्रि भोजन का त्याग किया जाता है। रात्रि में कोई भी खाने पीने की चीज पास रखना साधु के लिए निषेध है। प्राणान्त की सम्भावना होने पर भी साधु रात्रि में पानी तक नहीं पी सकता। औषधि तक नहीं ले सकता।

बोल चौबीसवाँ

भाँगा ४९—*

जैन आगम बुद्धि का विधान दो प्रकार से करता है—ज्ञ-प्रज्ञा और प्रत्याख्यान प्रज्ञा। ज्ञ-प्रज्ञा से पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है और प्रत्याख्यान-प्रज्ञा से हेय अर्थात् त्यागने योग्य वस्तु का त्याग किया जाता है। इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है। ज्ञ-प्रज्ञा के बिना हेय और उपादेय, अच्छे या बुरे का भान नहीं हो सकता और प्रत्याख्यान-प्रज्ञा, त्याग के विना कर्म आने का द्वार नहीं रुक सकता। इस बोल में प्रत्याख्यान - त्याग करने का सर्वोच्च पथ प्रदर्शित है। साधारण बुद्धि वाले त्याग का महत्व इतना ही समझते हैं कि मैं अमुक बुरा काम न करूंगा, किन्तु यह त्याग का अति सूक्ष्म अंश है। जब तक नौ-कोटि के द्वारा प्रत्याख्यान—त्याग नहीं किया जाता तबतक त्याग की पूर्णता नहीं कही जा सकती।

---

* भागा का संक्षिप्त वर्णन कठस्थ याद करने के पचीस बोल मे भी किया गया है। इस विषय को अच्छी तरह समझना चाहिये।

नौ-कोटि त्याग यंत्र—

क्रम	नव कोटि का नाम	भांगा हुआ	११	१२	१३	२१	२२	२३	३१	३२	३३
१	एक कोटि त्याग— करूं नहीं काया से।	१	१	-	-	-	-	-	-	-	-
२	दो कोटि त्याग — करूं नहीं वचन से काया से।	३	२	१	-	-	-	-	-	-	-
३	तीन कोटि त्याग — करूं नहीं मन से, वचन से काया से।	७	३	३	१	-	-	-	-	-	-
४	चार कोटि त्याग— करूं नहीं मन से वचन से काया से कराऊं नहीं। काया से।	९	४	३	१	१	-	-	-	-	-
५	पांच कोटि त्याग— करूं नहीं मन से वचन से काया से। कराऊं नहीं वचन से काया से।	१३	५	४	१	२	१	-	-	-	-
६	छव कोटि त्याग— करूं नहीं मन से वचन से काया से। कराऊं नहीं मन से वचन से काया से।	२१	६	६	२	३	३	१	-	-	-

अंक	नव कोटि का नाम	भांगा रुका	११	१२	१३	२१	२२	२३	३१	३२	३३
७	सात कोटि त्याग— करूं नहीं मन से वचन से काया से। कराऊं नहीं मन से वचन से काया से। अनुमोदूं नहीं काया से।	२५	७	६	२	५	३	१	१	-	-
८	आठ कोटि त्याग— करूं नहीं मन से वचन से काया से। कराऊं नहीं मन से वचन से काया से। अनुमोदूं नहीं वचन से काया से।	३३	८	७	२	७	५	१	२	१	-
९	नव कोटि त्याग— करूं नहीं मन से वचन से काया से। कराऊं नहीं मन से वचन से काया से। अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से।	४९	९	९	३	९	९	३	३	१	१

अङ्क	भंगा उठ्या	करण	जोग	प्रत्याख्यान के ४९ भंगों का विवरण
११	९	१	१	(१) करूं नहीं मन से (२) करूं नहीं वचन से (३) करूं नहीं काया से (४) कराऊं नहीं मन से (५) कराऊं नहीं वचन से (६) कराऊं नहीं काया से (७) अनुमोदूं नहीं मन से (८) अनुमोदूं नहीं वचन से (९) अनुमोदूं नहीं काया से।
१२	९	१	२	(१०) करूं नहीं मन से वचन से (११) करूं नहीं मन से काया से (१२) करूं नहीं वचन से काया से (१३) कराऊं नहीं मन से वचन से (१४) कराऊं नहीं मन से काया से (१५) कराऊं नहीं वचन से काया से (१६) अनुमोदूं नहीं मन से वचन से (१७) अनुमोदूं नहीं मन से काया से (१८) अनुमोदूं नहीं वचन से काया से।
१३	३	१	३	(१९) करूं नहीं मन से वचन से काया से (२०) कराऊं नहीं मन से वचन से काया से (२१) अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से।
२१	९	२	१	(२२) करूं नहीं कराऊं नहीं मन से (२३) करूं नहीं कराऊं नहीं वचन से (२४) करूं नहीं कराऊं नहीं काया से (२५) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से (२६) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से (२७) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं काया से (२८) कराऊं नहीं अनुमोदूं नही मन से (२९) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से (३०) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं काया से।

अङ्क	भंगा संख्या	करण	जोग	प्रत्याख्यान के ४९ भंगों का विवरण
२२	९	२	२	(३१) करूं नहीं कराऊं नहीं मन से वचन से (३२) करूं नहीं कराऊं नहीं मन से काया से (३३) करूं नहीं कराऊं नहीं वचन से काया से (३४) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से (३५) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से काया से (३६) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से काया से (३७) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से (३८) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से काया से (३९) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से काया से।
२३	३	२	३	(४०) करूं नहीं कराऊं नहीं मन से वचन से काया से (४१) करूं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से (४२) कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से।
३१	३	३	१	(४३) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से (४४) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से (४५) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं काया से।

अङ्क	भंग संख्या	करण	योग	प्रत्याख्यान के ४९ भंगों का विवरण
३२	३	३	२	(४६) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से (४७) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से काया से (४८) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं वचन से काया से।
३३	१	३	३	(४९) करूं नहीं कराऊं नहीं अनुमोदूं नहीं मन से वचन से काया से।
जोड़	४९			

मुनि जीवन में हिंसा आदि पापों का त्याग नौ कोटि से करना पड़ता है और श्रावक जीवन में प्रायः दो कोटि से लेकर बाह्य रूप में नव कोटि तक किया जा सकता है।

करना— मन से वचन से काया से, कराना— मन से वचन से काया से, अनुमोदन करना यानी समर्थन करना—मन से वचन से काया से— ये तीनों एक ही श्रेणी में हैं। हिंसा करने वाला हिंसक है, हिंसा कराने वाला भी हिंसक है और हिंसा का समर्थन करने वाला, हिंसा को अच्छा समझने वाला भी हिंसक ही है। इसी प्रकार मन से हिंसा करने वाला हिंसक है। वचन से हिंसा करने वाला हिंसक है।

करने वाले, कराने वाले और अच्छा समझने वाले के मन वचन काया का सम्बन्ध करने से नौ भंगे बन जाते हैं। कर्म लगने के ये ९ मार्ग हैं। रास्ते हैं। त्याग के द्वारा इन रास्तों

को रोका जाता है। निरोध किया जाता है। जैन दर्शन में इनके निरोध को संवर कहते हैं।

बोल पचीसवाँ

चारित्र पांच—

सामायिक च्छेदोपस्थाप्य परिहार विशुद्धि
सूक्ष्म सम्पराय यथाख्यातानि चारित्रम् ॥

— तत्वार्थ-सूत्र

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापन, (३) परिहार-विशुद्धि, (४) सूक्ष्म सम्पराय और (५) यथाख्यात—ये पांच प्रकार के चारित्र हैं।

शुद्ध दशा में आत्मा को स्थिर रखने का प्रयत्न करना चारित्र है। चारित्र, संवर, संयम, प्रत्याख्यान, त्याग—ये सब एक अर्थ वाची शब्द हैं।

जैन दर्शन में शुद्ध आचरण का कितना महत्व है यह इस बोल में बताया गया है। आचरण द्वारा प्राप्त आत्म-उज्ज्वलता का दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार चारित्र के पांच भेद करते हैं। परिणाम शुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा से ही चारित्र के भेद किये गये हैं।

चारित्र का अर्थ है आश्रव का निरोध करना। आश्रव के निरोध होने से आचरण शुद्ध हो जाता है।

सामायिक-चारित्र।

समभाव में स्थिर रहने के लिये सम्पूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है। छेदोपस्थापन आदि बाकी के चार चारित्र भी सामायिक रूप हैं परन्तु उनमें आचार और गुण सम्बन्धी कितनी विशेषतायें हैं अतः इन चारों को भिन्न श्रेणी में रखा गया है।

सामायिक चारित्र सर्व सावद्य योग का त्याग करने से प्राप्त होता है। योग का अर्थ है मन वचन काया की प्रवृत्ति। सावद्य शब्द स और अवद्य इन दो शब्दों के संयोग से बनता है। स का अर्थ है सहित और अवद्य का अर्थ है पाप। संक्षेप में तीन करण—करना, कराना, अनुमोदन करना और तीन योग—

मन, वचन, काय—से पाप युक्त प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र से अव्रत आश्रव का सम्पूर्णतया निरोध हो जाता है।

छेदोपस्थापन चारित्र।

यह चारित्र सामायिक चारित्र को च्छेदकर—उलंघकर ही आता है अतः इसका नाम छेदोपस्थापन चारित्र है। प्रथम दीक्षा लेने के वाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास करने के पश्चात् विशेप शुद्धि के निमित्त जो जीवन-पर्यन्त पुनः दीक्षा ली जाती है वह छेदोपस्थापन चारित्र है। प्रथम ली हुई दीक्षा में दोपापत्ति आने से उसका च्छेद करके फिर नये सिरे से दीक्षा लेना ही छेदोपस्थापन है। इसमें सामायिक चारित्र से कुछ नियमों की कठिनता अधिक है। जैसे एक घर का रोज भोजन नहीं लेना। प्रतिदिन दो दफे प्रतिक्रमण करना।

परिहार विशुद्धि चारित्र।

इस चारित्र में परिहार विशुद्धि नाम की तपस्या की जाती है। तपस्या से शरीर को प्रहार देकर, कष्ट देकर विशुद्ध होना इसका शाब्दिक अर्थ है। इस तपस्या का विधान इस प्रकार है—

नौ मुनि मिलकर इस चारित्र की आराधना में १८ महीनों तक कठोर तपस्या करते हैं। प्रथम छव महीनों तक चार साधु तो तपस्या करते हैं। चार साधु उनकी सेवा करते हैं। एक साधु को आचार्य चुन लिया जाता है। दूसरे छव महीनों तक जो चार साधु सेवा करते थे वे तपस्या करते हैं और जो तपस्या करते थे वे सेवा करते हैं। आचार्य वही रहता है। तीसरे छव महीनों तक आचार्य पद धारण करने वाला तपस्या करता है और अवशिष्ट आठ में से किसी एक को आचार्य पद पर नियुक्त कर देते हैं और वाकी के सात सेवा पर रहते हैं।

तपस्या का विधान - गरमी में जघन्य उपवास, मध्यम वेला और उत्कृष्ट तेला। शीतकाल में जघन्य वेला, मध्यम तेला, उत्कृष्ट चोला। चौमासे में जघन्य तेला, मध्यम चोला और उत्कृष्ट पंचोला।

वेला—दो दिन तक लगातार उपवास।
तेला—तीन दिन तक लगातार उपवास।
चोला—चार दिन तक लगातार उपवास।
पंचोला—पांच दिन तक लगातार उपवास।

सूक्ष्म सम्पराय चारित्र।

जिस अवस्था में क्रोध मान माया का उपशम व

क्षय हो जाता है, केवल सूक्ष्म लोभ का अंश विद्यमान रहता है उस सम्मुज्ज्वल अवस्था में सूक्ष्म सम्पराय नामक चारित्र प्राप्त होता है।

यथाख्यात चारित्र।

जैसा कहना वैसा करना वाली किंवदन्ती को सर्वथा चरितार्थ करने वाला चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है इसे वीतराग चारित्र भी कहते हैं। इसमें पाप कर्म का लगना सर्वथा बन्द हो जाता है। मोहनीय कर्म कतई उपशान्त व क्षीण हो जाता है। उपशान्त-मोह-यथाख्यात चारित्र वाला मुनि उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकता। क्षीण-मोह-यथा-ख्यात चारित्र वाला मुनि उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस चारित्र में किसी भी कषाय का उदय बिल्कुल नहीं रहता।

जैन दर्शन के अनुसार अंश रूप में सामायिक चारित्र का पालन करने वाला, बारह व्रत को पालन करने वाला व अंश रूप में भी आरम्भ समारम्भ को निवृत्त करने वाला देशव्रती श्रावक कहलाता है और पांच चारित्र का यथाविधि पालन करने वाला साधु कहलाता है।

उपसंहार

आश्रव संसार का हेतु है। संवर निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। अध्यात्मवाद का यही तथ्यपूर्ण तत्व है। इस तथ्य तक पहुंचने के लिये ही जीव-अजीव द्रव्यों का इतना विवेचन आवश्यक हो जाता है। इस जानकारी के बिना हेय—त्यागने योग्य एवं उपादेय—ग्रहण करने योग्य का निर्णय नहीं हो सकता। हमारी ज्ञातव्य—जानने योग्य बुद्धि उदार है। वह हेय और उपादेय दोनों को जानने के लिये उत्सुक है।

आत्मा की प्रवृत्ति के दो प्रवाह हैं—एक शुभ, दूसरा अशुभ। हिंसा असत्य चोरी मैथुन परिग्रह क्रोध मान माया लोभ ईर्ष्या भय स्वार्थ राग द्वेष आदि कार्यों में होनेवाली आत्मा की प्रवृत्ति अशुभ है। अहिंसा, सत्य अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य निष्परिग्रह क्षमा मृदुता सरलता सन्तोष समता आदि में होने वाली आत्मा की प्रवृत्ति शुभ है। इन दोनों का निरोध करना ही निवृत्ति है। दो प्रकार की प्रवृत्ति के लिये दो प्रकार की निवृत्ति का होना भी स्वाभाविक है जैसे—

अशुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति और शुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति। हम एक साथ निवृत्त नहीं हो सकते, चौदहवें गुणस्थान को नहीं पा सकते। हमें सब से पहले अशुभ प्रवृत्तियों, बुरे कामों से अपनी वृत्तियों को हटा कर शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करनी चाहिये। शुभ प्रवृत्तियों से ज्यों ज्यों आत्मा उज्ज्वल बनती चली जावेगी त्यों

त्यों निवृत्ति की मात्रा भी बढ़ती रहेगी। जब अशुभ प्रवृत्तियों पर पूर्ण विजय पा लेंगे तब उनकी निवृत्ति भी हो चुकेगी। जिस समय आत्मा शुभ प्रवृत्तियों से और भी उज्ज्वल बन जावेगी तब शुभ प्रवृत्ति की भी निवृत्ति हो जावेगी। आत्मा मुक्त हो जावेगी।

अनुग्रह इव प्राप्तो विवेकः प्रस्तुत श्रुते।
कृपा पूर्णः सदा लोकस्तुलसी पाद पद्मयोः ॥

—विक्रम सं० २००१ पौष

सहायक ग्रन्थ

तत्वार्थ सूत्र—हिन्दी विवेचन—पं० सुखलालजी।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि जैन सूत्र एवं उनके हिन्दी अनुवाद।

स्वामी अभेदानन्द कृत कतिपय अंग्रेजी ग्रन्थ।

जैन बोल संग्रह—अगरचन्द भैरोंदान सेठिया, बीकानेर।

करण संवाद—रतनलालजी।

श्री मद् भगवद्गीता—हिन्दी अनुवाद।

पुगलिया लाइब्रेरी, श्री डूंगरगढ़ में संगृहीत जैन व अजैन ग्रन्थ एवं पत्रिकायें।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, श्री डूंगरगढ़ में संगृहीत पुस्तक पुस्तिकायें।

सम्मतियाँ

By DHANRAJ DAGA. *M. A. B. L.*

20. MULLICK STREET, CALCUTTA.

It has been my proud privilege to have gone through this work of "MUNI" Shri Nathmalji. This volume has been scholarly composed in excellent Hindi and developed not only sentimentally, but classically in easy-grasping ideas, being amply illustrated by the quotations of texts from the scriptures. Every attempt to explain clearly the theory of "JIVA & AJIVA" in the easiest possible manner has been done. The credit for the collection of this great work with untiring labour and ardent zeal goes to Dr. J. M. Bhansali who devoted much of his most valuable time for publication of this master piece. It is a very good deep and useful book. By the dint of such books it can safely be said that the Jainism will very shortly become the religion of the World.

Dhanraj Daga

धर्मचन्दजी पुगलिया

उपसभापति

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा

श्री डूंगरगढ़

प्रातः स्मरणीय परम पूज्य महाराजाधिराज श्री मद् जैनाचार्य श्री १००८ श्री तुलसीरामाचार्य वर के विक्रम सं० २००२ के श्री डूगरगढ़ चातुर्मास के समय उनके शिष्य स्वामीजी श्री १०८ श्री नथमलजी स्वामी (टमकोर वालों) ने पचीस बोल विवेचन को सरल हिन्दी में लिपि बद्ध करके एक महान कमी को दूर करने की चेष्टा की है। एवं इस ग्रन्थ को सम्पादन करने का श्रेय हमारे साथी डाक्टर जेठमलजी भन्साली एम० बी० को है। हालां कि बहुत से डूंगरगढ़ के उत्साही युवकों से आपको समय समय पर सहयोग प्राप्त हुआ है लेकिन फिर भी पुस्तक को इतने सुन्दर ढंग से सम्पादन करके आपने हमारे सामने एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है।

हमारी हार्दिक अभिलाषा है कि ऐसे ऐसे सुन्दर ग्रन्थ सरल हिन्दी में काफी संख्या में प्रकाशित किये जायं। आशा है पढ़े लिखे युवक इस दिशा में कदम उठावेंगे। हमारी सभा उनको हर प्रकार से सहयोग देगी।

इस सुन्दर प्रयास के लिये श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा, श्री डूगरगढ़ की तरफ से मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूं।

—धर्मचन्द पुगलिया

श्रीयुत् पन्नालालजी भनसाली
आदर्श साहित्य संघ

ूज्य श्री आचार्य प्रवर ने पच्चीस वोल का विवेचन किया
ि आधार पर संत श्री नथमलजी स्वामी ने उसे लिपि वद्ध
ि उसी को मुखस्थ कर श्री डूगरगढ़ के कतिपय उत्साही
नकों ने संकलन किया वही आचार्य प्रवर का विवेचन
सा सव नहीं परन्तु उसका कुछ साराश पाठकों के सन्मुख
उपत है।

मे वहुत सी त्रुटियां रह गई हैं जिनमे कई तो प्रेस की
असवानी से और कई नवयुवकों के मुखस्थ कर लिखने जैसे
कठि कार्य मे रहनी स्वाभाविक हैं। जिसके लिये दो शुद्धा-
शुद्धित्र एक सैद्धान्तिक भूलों सम्बन्धी और दूसरा भाषा
सम्ब पुस्तक में लगा दिये गये हैं। जिन्हें पाठक सुधार कर
पढ़ेंगे सी हमे आशा है एवं दूसरी आवृत्ति में यह और अधिक
सुन्दरूप से निकल सकेगा ऐसा हमें विश्वास है।

पचीस वोल से प्राय: जैन धर्म का प्रत्येक व्यक्ति परिचित
है परन्तु उन्हे विवेचन सहित समझने की उत्सुकता वनी ही
रहती है। हमे आशा है कि उस कमी की पूर्ति कतिपय अंशों
मे यह पुस्तक कर सकेगी।

इसकी विवेचन शैली इस प्रकार रखने की चेष्टा की गई है
जससे जैन या अजैन कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ सके

परन्तु फिर भी पुस्तक का विषय दार्शनिक है जिसे समझने के लिये धीरज, विवेक और विश्वास की आवश्यकता है। उपन्यास और कहानी किस्सों की पुस्तकों की तरह पढ़ने मात्र से इस पुस्तक का ज्ञान होना कठिन है अस्तु इस पुस्तक को विशेष मनन पूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तक हमें श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा के सौजन्य एवं विशाल औदार्य के कारण ही प्राप्त हो सकी है। आदर्श साहित्य संघ को इसका गौरव है।

पन्नालाल भन्साली

देवेन्द्र कुमार जैन
आदर्श साहित्य संघ

पुस्तक का सम्पादन अत्यन्त सुन्दर और वैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है। जीव-अजीव का तात्विक विवेचन जिस मनोवैज्ञानिक और सैद्धान्तिक ढङ्ग से किया है वह अनूठा है। जैन समाज के लिये यह अभिनन्दनीय है। निस्संदेह 'जीव-अजीव' जैन साहित्य की एक बहुमूल्य निधि होगी।

—देवेन्द्र कुमार